क्या है वेदों में?

प्राणिमात्र के कल्याण हेतु निःसृत ईश्वरीय ज्ञान का सारतत्व

क्या है वेदों में ?

परमात्मा द्वारा मानव-कल्याण के लिए दिए गए ज्ञान का सार-संक्षेप

वेद शब्द का अर्थ है—ज्ञान। वेदों में ज्ञान की पराकाष्ठा है। हिन्दुओं के लिए वेद ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण हैं। प्रत्यक्षादि प्रमाणों को हिन्दुओं ने निर्दोष न होने के कारण प्रमाण नहीं माना। वेदों को प्रमाण-रूप में न स्वीकार करने वाले को नास्तिक कहना *(नास्तिको वेद निन्दकः)* हिन्दुओं की दृष्टि में वेदों की महत्ता दर्शाता है।

अपौरुषेय हैं वेद। इनमें 'प्रतिपादित' को ऋषियों ने अपनी अलौकिक दृष्टि से देखा था। इसीलिए ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा कहा गया *(ऋषयो मन्त्र द्रष्टारः)*। वे आप्त हैं, अर्थात् यथार्थ वक्ता *(आप्तस्तु यथार्थवक्ता)* हैं। इन्द्रियातीत ज्ञान को उन ऋषियों ने परम-दिव्य स्थिति में प्राप्त किया, इसलिए वह यथार्थ है, सत्य है, शाश्वत है।

वेदों में कर्म, उपासना और ज्ञान-इन तीनों पर विस्तार से चर्चा है। वेदों में प्रकृति, देवता, जीव और ईश्वर के सम्बन्धों की विवेचना है। ये सभी निरपेक्ष सत्य के ही अंगभूत हैं। ये सापेक्षिक सत्य हैं। इन पर विचार किए बिना 'परम' की उपलब्धि-अनुभूति नहीं हो सकती।

वेदों में कामनाओं को पूर्ण करने और निष्काम स्थिति पर पहुंचने का भी प्रतिपादन किया गया है। इसीलिए इनमें जहां धार्मिक कर्मकांड के रहस्यों का खुलासा है, वहीं अध्यात्म की गहरी अनुभूतियों का दिग्दर्शन भी है।

यह पुस्तक उपरोक्त विषय-वस्तुओं की संक्षिप्त-सटीक जानकारी देती है। इस पुस्तक को पढ़कर वेदों और वैदिक साहित्य को पढ़ने-समझने की प्रेरणा मिलती है।

हमें विश्वास है, वेदों का स्वाध्याय करके आपको इस सत्य का अवश्य अनुभव होगा कि कौन-सी विचारधारा या कौन-सा ज्ञान हैं, जो वेदों में निहित नहीं है अर्थात् समस्त विचारधाराओं का स्रोत हैं वेद।

पुस्तक के बारे में हम विद्वान पाठकों की प्रतिक्रिया अवश्य जानना चाहेंगे ताकि अगले संस्करण में अपेक्षित सुधार किया जा सके।

—प्रकाशक

प्रात: कालीन वैदिक प्रार्थना

"प्रातरग्नि प्रातरिन्द्रं हवामहे, प्रातार्मैत्रावरूणा प्रातरश्विना।
प्रातर्भगंपूषणं ब्रह्मणस्पतिं, प्रात सोमयुत रूद्रं हुवेम॥"
(ऋग्वेद 7/41/1)

हम उपासक लोग प्रतिदिन प्रात:काल में, हे ज्योतिस्वरूप परमात्मा! हे ऐश्वर्यदाता, सर्वहितकारी, सभी के द्वारा प्राप्त करने योग्य, अद्‌भुत शक्तियों के स्वामी, सब के उपास्य, जगत के पालनकर्ता, ज्ञानदाता, संसार के स्वामी, आनन्द स्वरूप और न्यायकारी, अनन्त गुणों, नामों और कर्मों को करने वाले, आपको अपने जीवन-संग्राम में विजय प्राप्त करने के लिए पुकारते हैं। हे प्रभु! आपकी कृपा से हमारा जीवन शुद्ध, शान्त और उन्नत बना रहे तथा आज का दिन हमारे लिए शुभ हो।

सान्ध्यकालीन प्रार्थना

"यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं, तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकन्तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥"
(यजुर्वेद 34/1)

हे परमात्मा! जाग्रतावस्था और प्रसुप्तावस्था में भी सदैव चञ्चल बना रहने वाला, दूर-दूर तक भटकने वाला, नित-नूतन ज्योति का प्रकाशक तथा अद्‌भुत शक्तियों से सम्पन्न, मेरा यह मन, सदैव शिव संकल्पों से युक्त रहे। मेरे मन में नित, नूतन लोकहितकारी तथा कल्याणकारी भावनाओं का उदय हो। हमारी आपसे यही प्रार्थना है।

हे सर्वरक्षक परमेश्वर! अपने दैनिक कार्यों में जाने-अनजाने हमसे जो दुष्कर्म हुए हैं, उन्हें आप क्षमा करें और मेरे जीवन को शुद्ध, सात्विक, वैदिक और उन्नत बनायें। मेरे जो कार्य अपूर्ण रह गये हैं, उन्हें पूर्ण करने में आप मेरी सहायता करें, मेरा मार्ग-दर्शन करें और मुझमें वह शक्ति भरें, जिससे मैं उन्हें पूर्ण कर सकूं।

क्या है वेदों में?

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के साधनों का समग्र रूप से प्रतिपादन करने वाले महान ग्रंथ का सार
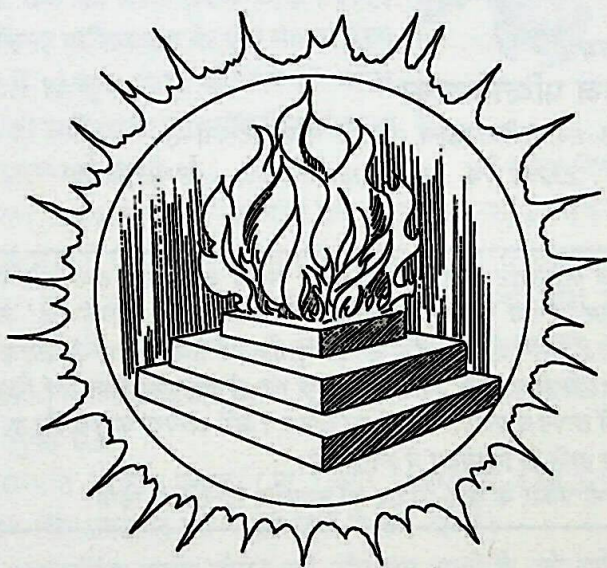
लेखक

डा. महेन्द्र मित्तल

मनोज पब्लिकेशन्स

प्रकाशक :
मनोज पब्लिकेशन्स
761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली-110084
फोन : 27611116, 27611349, फैक्स : 27611546
मोबाइल : 9868112194
ईमेल : info@manojpublications.com
वेबसाइट : www.manojpublications.com

शोरूम :
मनोज पब्लिकेशन्स
1583-84, दरीबा कलां, चांदनी चौक, दिल्ली-6
फोन : 23262174, 23268216, मोबाइल : 9818753569

ISBN : 81-8133-344-6

द्वितीय संस्करण : 2006

मूल्य : 60/-

मुद्रक :
आदर्श प्रिण्टर्स
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032

क्या है वेदों में? : डॉ. महेन्द्र मित्तल

लेखक परिचय

डॉ. महेन्द्र मित्तल

डॉ. महेन्द्र मित्तल मूलतः साहित्यकार हैं। हिन्दी साहित्य में इन्होंने एम.ए., पी-एच.डी. तक की शिक्षा ग्रहण की है। हापुड़ नगर, ज़िला ग़ाज़ियाबाद के एक मध्यम वैश्य परिवार में 12 जून, 1933 को जन्मे डॉ. महेन्द्र मित्तल की साहित्य के प्रति रुचि किशोरावस्था से ही प्रारम्भ हो चुकी थी।

सन् 1959 में पहला उपन्यास प्रकाशित हुआ, जो विविध शिक्षण संस्थाओं में वर्षों तक पढ़ाया जाता रहा। तदुपरान्त अब तक लगभग आठ उपन्यास, दो नाटक, दो कहानी-संग्रह, एक शोध-ग्रन्थ, बीस से ऊपर विभिन्न विषयों पर पुस्तकें, सौ से ऊपर बाल साहित्य की पुस्तकें, लोककथाएं तथा चित्रकथाएं आदि लिख चुके हैं। अनेक पुस्तकें पुरस्कृत भी हो चुकी हैं।

सम्प्रति *'उद्योग प्रभात'* (पा.) और *'अन्धायुग'* (सा.) पत्रों का सम्पादन और प्रकाशन गत पन्द्रह वर्षों से कर रहे हैं।

रचनाधर्मिता इनके जीवन की अंग बन चुकी है, जो इन्हें सदैव सजग और सक्रिय रखती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ 'क्या है वेदों में ?' डॉ. महेन्द्र मित्तल के गहन अध्ययन और दुष्कर विषय को भी सरल भाषा शैली में प्रस्तुत करने का परिचायक है।

डॉ. महेन्द्र मित्तल का पता

एल. 173, शास्त्रीनगर, मेरठ
(उ.प्र.) 250-001

भूमिका

'वेद' भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेदों में भारतीय जन-जीवन की अनादि अनुभूतियों का 'सत्य' विद्यमान है। ये अनादिकालीन अनुभूतियां, किसी एक व्यक्ति की अनुभूतियां नहीं हैं, अपितु सदियों तक हमारे महान् ऋषियों ने प्रकृति के मध्य बैठकर उस परमपिता परमात्मा के सान्निध्य और कृपा से प्राप्त की हैं। उन सभी अनुभूतियों का निचोड़ वेदों में संगृहीत है। विद्वान् ऋषियों के आध्यात्मिक चिन्तन-मनन का परिणाम वेद हैं। चिन्तन-मनन की यह शक्ति उन्हें परमात्मा से ही प्राप्त हुई और उसी के निर्देश पर ईश्वरीय सत्य का प्रतिपादन वेदों में किया गया है।

प्रकृति के मध्य रहकर ही प्रकृति की विशालता, सौन्दर्य और अद्‌भुत चमत्कारिक शक्ति को देखकर ही उनके मन में अनेक विचार उठे कि यह संसार क्या है? इस संसार से परे क्या है? इस संसार का नियन्ता कौन है? हमारी इस संसार में क्या स्थिति है? जन्म और मृत्यु का रहस्य क्या है? हमारे शरीर में स्थित प्राण-शक्ति क्या है? इसके जाते ही हमारे शरीर की सक्रियता समाप्त क्यों हो जाती है? यह सूर्य, चन्द्र, तारे, नक्षत्र किसने बनाये हैं? मरने के उपरान्त हम कहां चले जाते हैं? जीवित रहते हुए भी ये रोग हमें कैसे घेर लेते हैं? इन रोगों से बचने का उपाय क्या है? हम दीर्घकाल तक जीवित कैसे रह सकते हैं? ऐसे अनेक प्रश्न जिज्ञासा के रूप में ऋषियों के मन में उठे।

उसी जिज्ञासा को शान्त करने के लिए ऋषियों ने अनेकानेक साधनाएं और उपाय किये। उन्हीं साधनाओं और उपायों का सत्य ही वेदों में संगृहीत है। उन्होंने अपने भीतर और बाहर दोनों जगह झांककर देखा। ज्यों-ज्यों वे इन प्रश्नों का हल खोजने में प्रयत्नशील हुए, त्यों-त्यों उन्हें लगा कि ज्ञान का एक अथाह सागर उनके सामने है। उसके अद्‌भुत और आश्चर्यजनक रहस्यों को वे जैसे-जैसे आत्मसात करते गये, वैसे-वैसे वे चमत्कृत होते गये और हर पल, हर क्षण ज्ञान का एक नया पृष्ठ उनके सम्मुख खुलता चला गया। ज्ञान के उन खुले पृष्ठों का सत्य ही वेदों में निहित है।

उन्होंने जाना कि इस चराचर जगत् का नियन्ता, एक अद्‌भुत शक्ति है। वह शक्ति अनन्त और असीम है। वही ईश्वर है, परमात्मा है। उसी का अंश समस्त

प्राणियों में, समस्त जड़-जंगम में स्थित है। उसी की इच्छा से यह चराचर जगत् परिचालित है। परन्तु वह क्या है, कैसा है, उसका स्वरूप क्या है, यह कोई नहीं जान सका। उसे अनुभव तो किया जा सका, जैसे हम हवा का स्पर्श अनुभव तो करते हैं, पर उसे देख नहीं पाते अथवा पानी को हम देख सकते हैं, पर उसका रंग-रूप कैसा है, इसका निर्णय नहीं कर सकते। इसी प्रकार परमात्मा अनुभवगम्य है। उसे देखा नहीं जा सकता। उसका रंग-रूप निश्चित नहीं किया जा सकता।

जब बुद्धि अपनी सीमा को नहीं लांघ पाती, तब हमें उसकी असमर्थता का भान होता है। तब हम अपनी बुद्धि को विकसित करने की प्रार्थना करते हैं। जिससे प्रार्थना की जाती है, वही परमात्मा है, वही अनन्त ज्ञान का भण्डार है। ऋषियों की इन्हीं प्रार्थनाओं का सारतत्त्व वेदों में विद्यमान है। अपनी बुद्धि से परे स्थित उस 'सत्यस्वरूप' को जानने की इच्छा ही वेदों का प्रतिपाद्य विषय है। ज्ञान, कर्म, उपासना तथा विविध संस्कारों के ग्रन्थ हैं वेद। वेदों में ऋषियों ने अपने गूढ़ ज्ञान को गूढ़ शब्दावली में ही अभिव्यक्त किया है।

यही कारण है कि वर्तमान पीढ़ी वेदों में निहित गूढ़ ज्ञान के सत्य को समझने का प्रयत्न ही नहीं करती। वह उसे अपनी बुद्धि से परे की चीज़ लगती है। वह सार-रूप में, थोड़े में, तत्काल पाना चाहती है। उसके पास इतना समय नहीं है कि वह वेदों में संगृहीत हज़ारों मन्त्रों को पढ़े और उनका चिन्तन-मनन करे। वह भी तब करे, जब उनकी समझ में वे मन्त्र स्पष्ट हों। वेदों में निहित मन्त्रों को जितनी बार पढ़ा जाता है, उतनी ही बार उनमें से नया अर्थ निकल आता है। ऐसी दशा में किसी भी विद्वान् के लिए उनके भीतर छिपे मर्म को समझना बड़ा कठिन हो जाता है।

इस पुस्तक में मैंने अपनी बुद्धि की सीमित परिधि के अनुसार ज्ञान के विपुल भण्डार, वेदों के सत्य को संक्षेप में सरलता के साथ समझाने का प्रयास किया है। पता नहीं, मैं अपने इस प्रयास में कहां तक सफल हो सका हूं, इसका निर्णय आपको करना है।

—डॉ. महेन्द्र मित्तल

विषय-सूची

अथ प्रारभ्यते

"धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।"

(मनुस्मृति 2-13)

धर्म के प्रति जो जिज्ञासु हैं, वास्तव में वेद उनके लिए परम प्रमाण हैं।

निश्चय ही वेद समस्त धर्मों के श्रेष्ठतम तत्त्वों से युक्त हैं। ईश्वर के अलौकिक, अगम्य, अतर्क्य स्वरूप को अनुभव करने के लिए वेद परम उपयोगी ग्रन्थ हैं।

वेद स्तुतियां

"वेद ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं। सभी सत्य विद्याओं का मूल वेदों में विद्यमान है। वेद वह ज्ञान है, जिससे जीवन में सभी को महान् लाभ प्राप्त होता है। यह लाभ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में प्राप्त होता है। वेदों से ईश्वर, जीव और प्रकृति का सम्यक् बोध होता है।"

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

"वेद धर्म के मूल हैं।"

—मनुस्मृति

"वेद हमारी संस्कृति के मूल स्रोत हैं। हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुंचाने वाले ग्रन्थ-रत्न हैं।"

—बलदेव उपाध्याय

"इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट परिहार के अलौकिक उपायों को निर्देशित करने वाले ग्रन्थ वेद हैं।"

—सायणाचार्य

"वेद भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेदों में प्रदत्त ज्ञान का बहुमुखी प्रभाव विश्व-जनमानस पर अत्यन्त व्यापक है।"

—डॉ. मंगलदेव शास्त्री

"वेदों में उत्तम ज्ञान विद्यमान है। भारतीय गणित, ज्योतिष, स्वरशास्त्र, संगीत, राजनीति, समाजशास्त्र, विज्ञान, ओषधि-ज्ञान आदि के मूल वेद ही हैं। वेदों में वह सब कुछ है, जो जिज्ञासु जानना चाहता है।"

—डॉ. कृष्णलाल

"यदि कोई आर्य जाति के जीवन का विशद अध्ययन करने का इच्छुक है, तो उसे वैदिक साहित्य का अध्ययन करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगा।"

—मैक्समूलर

"वेद भारतीय धर्म का प्राचीनतम अभिलेख है।"

—ओल्डनबर्ग

"वेद भारत का प्राचीनतम साहित्यिक कीर्तिस्तम्भ है। यह भारोपीय भाषा का प्राचीनतम लिखित दस्तावेज़ है। इसे धार्मिक चिन्तन का मूल स्रोत कह सकते हैं।"

—ब्लूम फील्ड

"वेद पवित्र विचारों, कर्मों की पवित्रता, उपासना की शुद्धता और निश्चल ब्रह्मज्ञान को देने वाला है।"

—डॉ. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

"वेद ईश्वरीय ज्ञान-राशि हैं।"

—स्वामी विवेकानन्द

"इस संसार में सबसे पुराने ग्रन्थ वेद हैं। वेद ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। वे कहते हैं कि इस चराचर सृष्टि का रचयिता ईश्वर है। सूर्य, चन्द्र, आकाश और पृथ्वी परमात्मा ने ही रचे हैं।"

—पं. मदनमोहन मालवीय

'वेद' भारतीय संस्कृति के 'आदि ग्रन्थ'

सृष्टि के प्रारम्भ में, प्रकृति के विराट् और अद्भुत स्वरूप ने भारतीय ऋषि-मुनियों को चिन्तन का जो आधार प्रस्तुत किया, उसी का परिणाम 'वेद' हैं। सर्वप्रथम मनुष्य की बुद्धि ने इस अनन्त, असीम, सर्वकामी, सर्वोत्तम और सर्वग्राही प्रकृति के साथ जब तादात्म्य स्थापित किया, तब उसे इसके सान्निध्य से जहां एक ओर जीवनोपयोगी तथा कल्याणकारी पदार्थों का परिचय प्राप्त हुआ, वहीं दूसरी ओर इसके भयानक और भयावह स्वरूप के भी दर्शन हुए।

तब सहज ही आदिम मनुष्य के मन में एक प्रश्न उठा—'यह क्या है?' प्रकृति के प्रति उठे इसी प्रश्न में वेदों का रहस्य निहित है। जैसे-जैसे मनुष्य का चिन्तन-पक्ष सुदृढ़ होता गया, वैसे-वैसे उसका सम्पर्क प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों के साथ होता गया। मनुष्य अपनी इसी बुद्धि के बल पर 'ऋषि-पद' को प्राप्त कर सका। ऋषि कहते हैं—मन्त्रद्रष्टा को। इस पद पर पहुंचने के उपरान्त ही उसके जिज्ञासु मन में एक दूसरा प्रश्न उठा होगा—'यह अद्भुत प्रकृति, यह विराट् संचेतना, कहां से आयी? इसका नियन्ता कौन है? कौन है इसका जनक?' इसी प्रश्न ने उसके मन में एक सर्वशक्तिमान् परमात्मा के अस्तित्व को जन्म दिया। उसने खोज-खोजकर और निरन्तर कठोर साधना से उसका परिचय पाने का प्रयत्न किया। तब उसके अनेकानेक रूप उभकर उसके सामने आये।

उस परमशक्ति, उस परमतत्त्व, उस निस्सीम प्रभामण्डल के मध्य ही 'वेदों' का मर्म छिपा है। परमात्मा और प्रकृति के विशाल, अनन्त और अनबुझे रहस्यों का चिन्तन करके हमारे ऋषि-मुनियों ने सतत साधना से जिन महान् मन्त्रों को भाषाई स्वरूप प्रदान किया, उनका विशाल संग्रह वेदों में सुरक्षित है। इसीलिए वेदों को भारतीय संस्कृति के 'आदि ग्रन्थों' के रूप में वह स्थान प्राप्त है, जो विश्व की किसी भी भाषा में लिखे गये ग्रन्थों को प्राप्त नहीं है।

'वेद' का अर्थ और नामकरण

वेद कहते हैं—ज्ञान को। जीवन, जगत् और ईश्वर का यथार्थ ज्ञान वेद ही है। भारतीय मान्यता के अनुसार परमात्मा द्वारा प्रदत्त यह ज्ञान, जिन मन्त्रों अथवा ऋचाओं में संगृहीत है, उन्हें वेद का नाम दिया गया है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही

मानव-जीवन के मार्गदर्शन के लिए और उसके कल्याण के लिए ऋषियों की

चिन्तनधारा में प्रकृति का यह यथार्थ ज्ञान समय-समय पर समाहित होता रहा और मन्त्रों द्वारा वाणी से प्रकट होता रहा। 'वेद' शब्द विद धातु से बना है, जो ज्ञानरूपी महान् लाभ को देता है।

प्रारम्भ में गुरु-शिष्य परम्परा से वेदों का यह ज्ञान मौखिक रूप से पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहा, परन्तु बाद में महर्षि पराशर के महान् तेजस्वी पुत्र कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेदों के इस विशाल ज्ञान को लिपिबद्ध करके संगृहीत किया और वे वेदव्यास कहलाये। यह समस्त ज्ञान चार वेदों में संकलित है।

1. ऋग्वेद (स्तुति मन्त्र संग्रह) 10,521 मन्त्र।
2. यजुर्वेद (यज्ञकर्म मन्त्रों का संग्रह) 1,975 मन्त्र।
3. सामवेद (गेय मन्त्रों का संग्रह) 1,873 मन्त्र।
4. अथर्ववेद (विविध मन्त्र संग्रह) 5,977 मन्त्र।

कुछ विद्वानों की मान्यता है कि प्रारम्भ में एक ही वेद था, परन्तु अध्ययन की दृष्टि से इसे चार भागों में विभाजित कर दिया गया। कुछ विद्वानों का मत है कि प्रारम्भ में वेद तीन ही थे। 'अथर्ववेद' बाद में रचा गया। लेकिन जहां तक इनकी काल-रचना का प्रश्न है, उसके लिए यह कहना अधिक उचित प्रतीत होता है कि चारों वेद एक ही काल में नहीं रचे गये। इन वेदों में जो हज़ारों की संख्या में मन्त्र अथवा ऋचाएं हैं, वे भी किसी एक ऋषि के द्वारा एक ही समय में नहीं रची गयीं। विविध ऋषियों ने अपने-अपने काल में इन मन्त्रों की रचना की और वे सभी एक ही स्थान पर जुड़ते चले गये। इनकी रचना में सदियां लगी हैं।

सर्वाधिक प्राचीन वेद 'ऋग्वेद' है। 'ऋग्वेद' विज्ञान की सम्पदा अपने भीतर समेटे हुए है। विज्ञान में गुण और गुणी, दोनों का विश्लेषण होता है। 'ऋच स्तुतौ धातु' से ऋक् पद बनता है, अर्थात् जो गुण और गुणी के ज्ञान का वर्णन करता है, वह ऋक् है। इसमें स्तुति की प्रधानता है। विविध देवों और ज्ञान की स्तुति ही इसका लक्ष्य है। इस प्रकार 'ऋग्वेद' वह ज्ञान है, जिसमें पदार्थों के गुणों और उन गुणों के नियन्ता का वर्णन है। 'ऋग्वेद' सर्वाधिक प्राचीन तो है ही, यह सर्वाधिक विशाल भी है।

'ऋग्वेद' में दस मण्डल हैं। इन दसों मण्डल में दस हज़ार पांच सौ इक्कीस (10,521) मन्त्र हैं। ये सारे मन्त्र एक हज़ार अट्ठाईस (1,028) सूक्तों में विभाजित हैं।

'यजुर्वेद' का यजुः शब्द यज धातु से बना है, जिसका अर्थ देवपूजा, संगति और दान से किया जाता है। यजुर्वेद को 'यजुओं का वेद' कहा जाता है, अर्थात् जिन मन्त्रों से यज्ञकर्म किया जाये, वे यजुर्वेद में आते हैं। 'गद्यात्मको यजुः'

अर्थात् गद्यात्मक मन्त्रों का नाम यजुः है। इस प्रकार जिन गद्यात्मक मन्त्रों के द्वारा यज्ञ किया जाता है, उनका संग्रह 'यजुर्वेद' में किया गया है। इसमें चालीस अध्यायों में एक हज़ार नौ सौ पिछत्तर (1,975) मन्त्र हैं।

'यजुर्वेद' कर्मकाण्ड से सम्बन्धित है। ये सारी क्रियात्मक क्रियाएं एवं गतियां, देवपूजा, संगति और दानादि के अन्तर्गत आती हैं। क्रिया और गति का इससे अच्छा कोई अन्य वर्गीकरण नहीं है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे 'यजः' कहा गया है, अर्थात् यज्ञ करते समय जिन मन्त्रों के द्वारा देवताओं को आहुति दी जाती है, उन्हें 'यजुर्वेद' में संगृहीत किया गया है।

'सामवेद' उपासना काण्ड है। साम में 'सा' विद्या को कहा गया है और 'अम' कर्म का नाम है। सा+अम मिलकर साम बनता है। 'सा' सर्वशक्तिमान् परमेश्वर है और 'अम' जीव है। दोनों के सम्मिलन से 'साम' बनता है। उपासना काण्ड होने से सामवेद नाम सर्वथा सार्थक है। साम मन्त्रों को गायन की दृष्टि से ऋचा से मापकर बनाया जाता रहा है। इन मन्त्रों में गेय पक्ष की प्रधानता है। देवोपासना में मन्त्रों को गाकर बोलने से जीव और परमात्मा का समन्वय होता है। यह समन्वय ही साम मन्त्रों का प्राण-तत्त्व है। इसमें 6 अध्यायों में 1,873 मन्त्र हैं।

'अथर्ववेद' ज्ञान काण्ड से सम्बन्धित है। इस जगत् के समस्त पदार्थों के अन्दर उस परमपिता परमेश्वर की सत्ता को खोजना ही अथर्व है। इसे चतुर्थ वेद कहा जाता है। 'त्रयीविद्या' (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) के मिश्रित स्वरूप को चतुर्थ वेद में समाहित किया गया है।

कतिपय विद्वान् अथर्ववेद को पवित्र वेद का स्थान नहीं देते। उनका कहना है कि अथर्ववेद में मारण, मोहन, उच्चाटन, अभिचार तथा जादू-टोने आदि के मन्त्र मिलते हैं और कालक्रम की दृष्टि से भी यह परवर्ती रचना है। इसलिए प्रारम्भ में पवित्र ब्राह्मण-पुरोहितों का वर्ग इसे वेदों की श्रेणी में लेने के लिए तैयार नहीं था, परन्तु आगे चलकर इसे मान्यता प्राप्त हुई और इसे भी प्रारम्भिक तीन वेदों के साथ रखा जाने लगा; क्योंकि अथर्ववेद में ब्राह्मणें की शक्ति और गरिमा को विशिष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है। अथर्ववेद में 20 काण्ड हैं, जिन्हें 731 सूक्तों में बांटा गया है और इसमें कुल पांच हज़ार नौ सौ सतहत्तर (5,977) मन्त्रों का उल्लेख मिलता है।

'वेद' सम्बन्धी परिभाषाएं

सायणाचार्य (वेदों के प्राचीन भाष्यकार)—'वेद वे प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनमें इच्छित पदार्थों की प्राप्ति और अनिष्टकारी सम्भावनाओं से सुरक्षित रहने के दिव्य उपाय बताये गये हैं। जैसे इस भौतिक जगत को देखने के लिए नेत्रों की आवश्यकता

होती है, उसी प्रकार दिव्य तत्वों को जानने और समझने के लिए वेदरूपी नेत्रों की

आवश्यकता होती है।'

महर्षि दयानन्द (आर्यसमाज के संस्थापक)—'वेद ज्ञान-विज्ञान के भण्डार हैं। सभी सत्य विद्याओं का मूल वेदों में विद्यमान है। वेद वह ज्ञान है, जिससे जीवन में सभी को महान् लाभ प्राप्त होता है। यह महान् लाभ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में प्राप्त होता है। वेदों से ईश्वर, जीव और प्रकृति का सम्यक् बोध होता है।'

महर्षि दयानन्द ने वेदों के विषय में लिखते समय कहा था कि वेद में किसी व्यक्ति-विशेष का इतिहास या किसी प्रकार की कपोलकल्पित गाथाएं नहीं हैं। वेदों में ईश्वरीय ज्ञान के स्वतः प्रमाण हैं। वेदों में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, वे सभी शब्द यौगिक हैं। वेद की वाणी नित्य है। वेद परमकारुणिक, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् भगवान् की वाणी हैं। ज्ञान और देववाणी से संयुक्त वेद प्रत्येक कल्प के प्रारम्भ में ऋषियों के चिन्तन से जन्म लेते हैं। वेद का ज्ञान अनन्त है; क्योंकि यह ईश्वरीय ज्ञान है।

'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।' *(ऋग्वेद 10/114/2)*

अर्थात् जितना व्यापक ब्रह्म है अथवा आकाश है, उतनी ही यह वाणी है। अथर्ववेद में एक मन्त्र आता है—

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूंरजनयं सप्त साकम्।
अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परिवाचं विशश्च॥

(अथर्ववेद 6/61/2)

अर्थात् हे मनुष्यो! मैं परमात्मा ही पृथिवी और द्युलोक का भेद उत्पन्न करने वाला हूं। मैं ही सातों ऋतुओं अथवा सातों प्रकृति-विकृतियों को एक क्रम के साथ उत्पन्न करता हूं। क्या सत्य है और क्या झूठ है, इसका परिज्ञान भी मैं ही देता हूं। मैं ही मनुष्यों में देववाणी, अर्थात् वेदवाणी प्रकट करता हूं।

वेदों को 'श्रुति' नाम से भी पुकारा जाता है। श्रुति का अर्थ है—'श्रूयते इति,' अर्थात् जो सुने जाते हैं, वे श्रुति (वेद) हैं। वेदों को इसलिए श्रुति कहा जाता रहा है कि ऋषियों ने अपने चिन्तन से जिस ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त किया, उसे उन्होंने अपने शिष्यों को सुनाया। सुनकर ही परम्परा से ये वेद-मन्त्र कण्ठस्थ होते रहे और पीढ़ी-दर-पीढ़ी सतत रूप से प्रचलन में आते रहे।

प्राचीनकाल से ही भारत में गुरु-शिष्य परम्परा का प्रचलन रहा है। इन वेद-मन्त्रों के द्वारा ऋषिजन देवों की स्तुतियां किया करते थे और यज्ञ करके उनके नाम की आहुति डाला करते थे। वह मन्त्रोच्चारण लय और स्वरों के आरोह-अवरोह के साथ श्रोता को आनन्दित करता था। श्रुति परम्परा की इसी महत्ता से वेद-मन्त्रों की

रक्षा सम्भव हो सकी। उस समय अक्षर की शुद्धता पर पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता था। कुछ अन्य विद्वानों ने वेदों के विषय में कहा है—

बलदेव उपाध्याय—'वेद हमारी संस्कृति के मूल स्रोत हैं। हमारी सभ्यता को उच्चकोटि तक पहुंचाने वाले ग्रन्थ-रत्न हैं।'

डा. मंगलदेव शास्त्री—'वेद भारतीय संस्कृति के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वेदों में प्रदत्त ज्ञान का बहुमुखी प्रभाव विश्व-जनमानस पर अत्यन्त व्यापक है।'

डा. कृष्णलाल—'वेदों में उत्तम ज्ञान विद्यमान है। भारतीय गणित, ज्योतिष, स्वरशास्त्र, संगीत, राजनीति, समाजशास्त्र, विज्ञान, ओषधि आदि के मूल स्रोत वेद ही हैं।'

वास्तव में, वेदों में वह सब कुछ है, जो जिज्ञासु जानना चाहता है। जो जिस दृष्टि से इन्हें पढ़ता है, इनका मनन करता है, उसे वह सब वेदों में मिल जाता है।

पाश्चात्य विद्वान् मैक्समूलर ने लिखा है—'यदि किसी को आर्य जाति के जीवन का विशद अध्ययन करना है, तो उसके लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन करना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण होगा।'

ओल्डनबर्ग—'वेद भारतीय धर्म का प्राचीनतम अभिलेख है।' (Oldest Document of Indian Literature and religion).

ब्लूम फ़ील्ड—'वेद भारत का प्राचीनतम साहित्यिक कीर्तिस्तम्भ है। यह भारोपीय भाषा का प्राचीनतम लिखित दस्तावेज़ है। इसे भारतीय धार्मिक चिन्तन का मूलस्रोत कह सकते हैं।'

'मनुस्मृति' में—'वेदोऽखिलो धर्ममूलम्' कहा गया है, अर्थात् सभी धर्मों का आधार वेद है।

यहां 'धर्म' को किसी पन्थ अथवा सम्प्रदाय के रूप में नहीं माना गया है। स्मृतिकार धर्म की परिभाषा करते हुए कहते हैं—

'धारणात् धर्म इत्याहुः धर्मो धारयति प्रजाः।'

अर्थात् धारण करने से धर्म कहा जाता है और यही धर्म प्रजा को धारण करता है। इसका अर्थ यही है कि धर्म से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे प्रजा की हर रूप में प्रगति होती है। 'आध्यात्मिक' रूप से, 'आधिदैविक' रूप से और 'आधिभौतिक' रूप से उसके जीवन का अभ्युदय धर्म के द्वारा ही होता है। इसी को धर्म कहते हैं।

यतो अभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः सः धर्मः 'जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की प्राप्ति हों, वह धर्म है', ऐसी परिभाषा भी आचार्यों ने की है। इस प्रकार धर्म से प्रेय और श्रेय दोनों की प्राप्ति संभव है। धर्म से मनुष्य को सद्विचार प्राप्त होते हैं। वह उसे असत्य के मार्ग से सत्य की ओर ले जाता है। पशु से मनुष्य बनाता है। अशान्ति से शान्ति की ओर ले जाता है। उसे लौकिक सुखों के नश्वर भ्रमजाल से

निकालकर, स्थायी परमानन्द का अनुभव कराता है। उसे स्वार्थ से परमार्थ की ओर प्रेरित करता है। यही वेदों का मुख्य विषय है।

डा. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने वेदों के विषय में अपने मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि 'ऋग्वेद' पवित्र विचारों का वेद है। 'यजुर्वेद' कर्मों की पवित्रता का वेद है। 'सामवेद' उपासना की शुद्धता का वेद है और 'अथर्ववेद' निश्चल ब्रह्मज्ञान को देने वाला है। ऋग्वेद के अध्ययन से चलकर अथर्ववेद के अध्ययन तक पहुंचने वाला साधक 'स्थितप्रज्ञ' की श्रेणी में पहुंच जाता है।

भारतीय परम्परा के अनुसार वैदिक ज्ञान को ईश्वरीयं ज्ञान, अर्थात् नित्य माना जाता रहा है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इसे स्वयं परमात्मा ने आकर ऋषि-मुनियों को दिया था। यह धर्मान्धता है। इसे इस प्रकार कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि ईश्वरीय प्रेरणा से प्रकृत ज्ञान भारत के आप्त ऋषि-मुनियों के चिन्तन में आया और फिर वेदों का आविर्भाव सम्भव हो सका। इन्हें अपौरुषेय मानना, वेद-मन्त्रों के सृजक उन ऋषियों की बौद्धिक क्षमता और सूक्ष्म चिन्तन दृष्टि को नकारने जैसा है। सृष्टि के प्रारम्भ में, ईश्वर ने यह ज्ञान मानवमात्र के कल्याण के लिए ऋषियों के अन्तःकरण में प्रकाशित किया था। तब उन्होंने मन्त्रों के रूप में उस ज्ञान को वाणी प्रदान की।

परम्परा की दृष्टि से ऋषियों की ये रचनाएं दिव्य कही जाने योग्य हैं। अग्नि, वायु, आदित्य तथा अंगिरा आदि ऋषियों ने मानव-कल्याण के लिए यह ज्ञान इस संसार को दिया। ये मन्त्र उन्हीं ऋषियों के नाम से प्रसिद्ध हुए, जिन्होंने इन्हें रचा था अर्थात् इनका साक्षात्कार किया था।

'वेद' इतिहास ग्रन्थ नहीं हैं

वेदों को इतिहास ग्रन्थ न मानने वालों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। ऐसा ही एक ग्रन्थ 'वैदिक इतिहास विमर्श' है। इस ग्रन्थ में सभी व्यक्तिवाचक पदों का और वैदिक इतिहास का निराकरण किया गया है। वेद में व्यक्ति-विशेष के नाम का उल्लेख नहीं किया गया है। इसमें सभी पद यौगिक हैं।

अंगिरस, इन्द्र, विश्वामित्र आदि पदों को देखकर कुछ लोग वेदों में व्यक्ति-वाचक इतिहास की कल्पना कर लेते हैं, परन्तु यह सर्वथा निरर्थक तथ्य है। यहां 'अंगिरा' और 'इन्द्र' आदि शब्दों के साथ 'तमम्' प्रत्यय करके अंगिरस्तम, इन्द्रतम आदि पद प्रयुक्त किये गये हैं, जिनका अर्थ होता है, अत्यन्त अंगिरा और अत्यन्त इन्द्र। इसे विशेषण भी कहा जा सकता है।

विश्वामित्र सूर्य को कहा जाता है। वह सर्व मित्र है अथवा विश्व का मित्र है। इस प्रकार जो पद व्यक्तिवाची प्रकट होते हैं, वे वास्तव में यौगिक शब्द हैं।

यजुर्वेद में विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, भरद्वाज आदि नाम इन्द्रियों के लिए प्रयोग हुए हैं। वेदों में नदी और पर्वतों आदि के नाम भी यौगिक हैं। उन्हें व्यक्तिवाचक कहना भारी भूल होगी। सिद्धान्त-रूप से इसे इस प्रकार समझना चाहिए कि वेदों में इन्हीं शब्दों के आधार पर बाद में व्यक्तिवाचक नाम रखे गये थे, न कि इन नामों को वेदों में प्रयुक्त किया गया था। 'वैदिक इतिहास विमर्श' ग्रन्थ में इसका विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।

वेदार्थ के अन्य उपयोगी ग्रन्थ

चारों वेदों की मूल चार संहिताएं (संग्रह) आज उपलब्ध हैं। संहिता नाम इन्हें इसलिए दिया गया है कि ये वेदों में निहित पदों की प्रकृति है। संहिता नित्य होती है, जबकि पद, द्वन्द्व आदि विभक्त वाक्यों को नित्य नहीं कहा जा सकता।

'महाभारत' ग्रन्थ के रचयिता प्रकाण्ड विद्वान् ब्रह्मर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने वेद-मन्त्रों का संकलन करके इन्हें चार संहिताओं में संकलित किया। वेद-मन्त्रों के संकलन करने के कारण ही वे 'वेदव्यास' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

व्यासजी के चार प्रमुख शिष्य थे—पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्तु। व्यासजी ने 'ऋग्वेद' की ऋचाओं को पैल को पढ़ाया। 'यजुर्वेद' की ऋचाओं का ज्ञान वैशम्पायन को दिया। 'सामवेद' जैमिनि को कण्ठस्थ कराया और 'अथर्ववेद' का पाठ सुमन्तु को पढ़ाया। श्रीमद्भागवत पुराण में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—

तत्रर्ग्वर्देधरः पैलः सामगो जैमिनीः कवि।
वैशम्पायन एवैको निष्णातो, यजुषामुत।
अथर्वाङ्गिरसामासीत् सुमन्तुर्दारुणो मुनिः।

(भागवत पुराण 1.4.21.22)

वेदों के चार उपवेद भी प्राप्त होते हैं—आयुर्वेद, अर्थवेद, धनुर्वेद और गन्धर्ववेद। यहां पर वेद पद का उपयोग 'विद्या' से माना जाता है।

इन उपवेदों के अतिरिक्त छह 'वेदांग' भी हैं। ये वेदों के अंग हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष। वेदार्थ के लिए इनका अध्ययन आवश्यक है।

वेदांगों के बाद 'उपाङ्गों' का उल्लेख भी मिलता है। ये इस प्रकार हैं— ''सांख्य, योग, वैशेषिक, न्याय, मीमांसा और वेदान्त। ये भी संख्या में छह हैं। ये सभी दर्शन ग्रन्थ हैं, दार्शनिक विचारों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। वेदों का सम्पूर्ण दर्शन इन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

इसके अतिरिक्त विभिन्न धर्मसूत्रों और स्मृतिग्रन्थों के द्वारा भी वेद-मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट किया जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में भी वेद के व्याख्यान हैं। उनमें प्रायः यज्ञ-प्रक्रिया का उल्लेख प्राप्त होता है। वेदों के प्रसंग में वे वैज्ञानिक और आध्यात्मिक रहस्यों को भी स्पष्ट करते हैं।

‘शतपथ ब्राह्मण’ और ‘ताण्डय ब्राह्मण’ अत्यन्त विशाल ग्रन्थ हैं। ‘ऐतरेय’ कुछ छोटा है और ‘तैत्तिरीय ब्राह्मण’ पर्याप्त बड़ा ग्रन्थ है। ‘गोपथ’ अथर्ववेद का ब्राह्मण ग्रन्थ है। इसमें अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का विशेष उल्लेख मिलता है। ‘शतपथ ब्राह्मण’ वस्तुतः विद्या का कोष है।

इसी प्रकार वेदों के अर्थ के लिए उपनिषद् ग्रन्थ हैं। ये मुख्य रूप से ब्रह्मविद्या के ग्रन्थ हैं। वेदों की ब्रह्मविद्या इन उपनिषदों और आरण्यक ग्रन्थों में विस्तार से वर्णित की गयी है। वह कोई स्वतन्त्र विद्या न होकर वेदों की ब्रह्मविद्या का ही रूपान्तर है। उपनिषदों में वेदों के साक्ष्य स्थान-स्थान पर बिखरे पड़े हैं।

आरण्यक ग्रन्थ, ब्राह्मण ग्रन्थों के वे भाग हैं, जिन्हें अरण्य, अर्थात् वनों में लिखा गया। ईश उपनिषद् का तो सीधा सम्बन्ध वेदों से है।

प्रायः लोग ‘वेदान्त’ का अर्थ वेदों के अन्तिम काण्ड से लगा लेते हैं। वे वेदों को कर्मकाण्ड के ग्रन्थ मानते हैं। वैसे तो उपनिषद् भी वेदान्त हैं, परन्तु ऐसा अर्थ निकालना निश्चित रूप से ग़लत है। वेदान्त में आये ‘अन्त’ का अर्थ ‘सिद्धान्त’ से है। इस प्रकार वेदान्त का अर्थ है—वेद का सिद्धान्त। उपनिषदों और वेदान्तग्रन्थों में वेदों के सिद्धान्तों का ही वर्णन है।

इस प्रकार वेदों में जो ज्ञान भरा पड़ा है, वह अत्यन्त व्यापक है। वेद किसी एक विषय की पुस्तक नहीं है। वेद सभी सत्य विद्याओं की पुस्तक है। यह एक ऐसा विश्वकोश है, जिसमें विविध विषय एक साथ वर्णित हैं।

वेदों का महत्त्व

मानव-जीवन का उद्देश्य प्रमुख रूप से चार पुरुषार्थों को प्राप्त करने का होना चाहिए। वेदज्ञान में निहित धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनकी सिद्धि ही जीवन की परम उपयोगी सिद्धि है। मानव-जीवन की वर्तमान त्रासदी तथा कठिनाइयों का निराकरण इसी सिद्धि में निहित है। वेदज्ञान के बिना मानवता सुख की नींद नहीं सो सकती। इस सुख, शान्ति और परमतत्त्व के सान्निध्य को प्राप्त करने के लिए वेदज्ञान परम आवश्यक है।

वेदज्ञान में वह शक्ति निहित है, जो मानव-जाति के सम्पूर्ण मतभेदों को मिटा सकती है और वेदमार्ग पर चलने वाला व्यक्ति दुःख और अशान्ति की सभी उलझनों से छुटकारा पाकर इस धरती पर स्वर्ग की अनुभूति कर सकता है। जो व्यक्ति पूर्ण श्रद्धा, आदर और लगन से प्रभु की इस वाणी का अध्ययन करता है और उसे अपने जीवन के व्यावहारिक पक्ष में निष्काम भाव से स्थान देता है, उसे जीवन में कभी भी सुख-शान्ति का अभाव नहीं रहता। धरती पर फैले अन्धकार को समाप्त करने में वेद के पावन ज्ञान का विशेष महत्त्व है। इस ज्ञान का मुख्य आधार इस मन्त्र में निहित है—

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परा सुव। यद्भद्रं तन्न आसुव॥

(ऋग्वेद 5/22/5)

अर्थात् हे परमेश्वर (सवित)! सम्पूर्ण संसार को उत्पन्न करने वाले (देव) और सम्पूर्ण संसार को प्रकाशित करने वाले जगदीश्वर (विश्वानि) सम्पूर्ण (दुरितानि) दुष्ट आचरणों को आप (परासुव) दूर कीजिये और (यत्) जो (भद्रम्) कल्याणकारक है (तत) उसे (नः) हम लोगों के लिए (आ, सुव) सब प्रकार से प्राप्त कराइये।

इसका मूल भाव यही है कि इसमें जीव परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हे परमेश्वर! आप कृपा करके हमारे जितने भी दुष्ट एवं नीच आचरण अथवा कर्म हैं, उन्हें हमसे अलग करके धर्मयुक्त गुण, कर्म और स्वभावों को हमारे हृदय में स्थापित कीजिये।

वस्तुतः देश, काल और परिस्थितियों से ऊपर उठकर प्राणिमात्र का समान रूप से कल्याण करने का उपदेश वेद देते हैं। मानवमात्र इसकी शरण में आकर सुख, शान्ति व आनन्द की प्राप्ति करके अपने जीवन को सफल बना सकता है।

अथर्ववेद में वेदज्ञान को माता के समान स्वीकार किया है—

स्तुतामया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पाबमानी द्विजानाम्

आयुः प्राणं प्रजा पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

(अथर्व 19/71/1)

अर्थात् वर देने वाली ज्ञान की माता (वेदमाता) से स्तुति की गयी है कि वह परमात्मा की वेदवाणी को द्विजों में आगे बढ़ाये। भाव यही है कि मनुष्य विद्वान् आचार्यों के संसर्ग से पूर्ण आदर के साथ वेदवाणी का सतत अभ्यास करके ब्रह्मज्ञानियों के मध्य सर्वोच्च कीर्ति, अर्थात् यश प्राप्त करे।

'मनुस्मृति' में सम्पूर्ण वेदों को धर्म का मूल स्वीकार किया गया है। महर्षि दयानन्द ने भी वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक माना है। वेद भारतीय जीवन के प्राणतत्त्व के रूप में विद्यमान हैं। भारतीयों के सनातन हिन्दू धर्म में देवगणों की उपासना वैदिककाल से ही चली आ रही है। भारतीय जीवन के समस्त संस्कारों को दिशा देने वाले वेद ही हैं तथा भारतीय विचारधारा की सुदीर्घ परम्परा वेदों की ही देन है।

जन्म, विवाह, मृत्यु तथा अन्य कितने ही मांगलिक अवसरों पर पुरोहित वेद-मन्त्रों के द्वारा ही संस्कार सम्पन्न कराते हैं। नित्य उपासना में भी गायत्री मन्त्र और महामृत्युञ्जय मन्त्र की सुमधुर ध्वनि सुनाई पड़ जाती है। वेद हमारे जीवन के वे प्रामाणिक ग्रन्थ हैं, जिनके द्वारा हमारा जीवन संचालित होता है। वेद हमारी संस्कृति में और हमारे सनातन धर्म में इतने रच-बस गये हैं कि उनके बिना हम अपने जीवन के दैनन्दिन क्रियाकलापों की पूर्णता को संदिग्ध मानने लगते हैं। उनके अभाव में

जीवन के विकास की प्रगति धूमिल पड़ जाती है। उनका सम्बन्ध केवल हमारे धार्मिक कृत्यों अथवा अनुष्ठानों तक ही सीमित नहीं है, अपितु हमारे रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, बोलचाल, भाषा-वाणी, संगीत, समाज, पौराणिक कथा साहित्य और जीवन-दर्शन से जुड़े होने के कारण वे अत्यधिक उपयोगी ग्रन्थ हैं।

वास्तव में धर्म के विषय में जो लोग जिज्ञासु हैं, उनके लिए वेदों का महत्त्व बहुत है। हिन्दू धर्म की उदारता, व्यापकता और मानवता का धार्मिक आधार हमें वेदों से ही प्राप्त हुआ है। धर्म के श्रेष्ठतम तत्त्वों से युक्त ग्रन्थ वेद हैं। स्मृतिग्रन्थों के अतिरिक्त 'रामायण', 'महाभारत' और पुराणों आदि में धर्म का जो आदर्श और व्यवहार पक्ष उपलब्ध होता है, वह वेदों पर ही आधारित है।

सामाजिक, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से भारतीय जीवन-दर्शन का मूल तत्त्व वेदों से ही ग्रहण किया गया है। इसके अतिरिक्त समस्त आचार-विचार, राष्ट्र की सुरक्षा के विविध उपाय, विभिन्न शासन-प्रणालियों के रूप और आदर्श, वेद-ग्रन्थों से ही प्राप्त होते हैं। आर्थिक नीतियों और सिद्धान्तों का उचित दिशा-निर्देश भी वेदों से ही प्राप्त होता है।

'साम्यवाद' अथवा 'सर्वोदयवाद' का परिष्कृत स्वरूप 'ऋग्वेद' में देखा जा सकता है। वहां 'अकेले खाने वाले को पाप का भागी' माना जाता है—

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋग्वेद 10/117/6)

अर्थात् आगे-पीछे न देखने वाला, धन का स्वामी, अन्नादि पदार्थों को व्यर्थ ही प्राप्त करता है। मैं परमेश्वर यह उपदेश देता हूं कि वास्तव में उसका यह धन उसकी मृत्यु है। न तो वह विद्वान् का पोषण करता है, न विपत्ति में अपने साथी जनों का। वह अकेला ही भोग करने वाला अथवा खाने वाला, केवल पाप का ही भागी होता है।

वेदों में विज्ञान का स्वरूप

'विज्ञान' की विविध सम्भावनाओं की खोज भी वेदों में की गयी है। भौतिकी, गणित, आयुर्विज्ञान, वनस्पतिशास्त्र और रसायनशास्त्र का उल्लेख वेदों में कितने ही स्थानों पर देखा जा सकता है।

ब्रह्माण्ड में विचरण करने वाले ग्रह-नक्षत्रों का वेद की ऋचाओं में अनेक स्थानों पर उल्लेख हुआ है, जैसे—

एता उत्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः॥

(ऋग्वेद 1/92/1)

अर्थात् इस सृष्टि में सदैव सूर्य का प्रकाश भूगोल के आधे भाग को ही प्रकाशित करता है और आधे भाग में अन्धकार रहता है। सूर्य के प्रकाश के बिना किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। सूर्य की किरणें क्षण-क्षण भूगोल आदि के घूमने से गमन करती-सी दीख पड़ती है, जो प्रात:काल के रक्तिम प्रकाश को अपने देश में प्रत्यक्ष रूप से और दूसरे देश में अप्रत्यक्ष रूप से प्रकाशित करती हैं। इस प्रकार प्रात:काल की वेला में सभी लोगों में वे रक्तिम रश्मियां एक-जैसी सभी दिशाओं में प्रवेश करती हैं। जिस प्रकार शस्त्र आगे-पीछे करने से सीधी और उलटी चाल को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार प्रात:काल के भूगोल की चालों से सूर्य-रश्मियां सीधी-तिरछी चालों से युक्त होती हैं। यह मनुष्यों को जानना चाहिए।

वेदों में 'सम्वत्सर' पद का अर्थ सूर्य भी है। इस पद की व्याख्या करते हुए जैमिनीय और शतपथ ब्राह्मण में एक वैज्ञानिक रहस्य का उद्‌घाटन किया गया है। वहां कहा गया है—

यद्विभाति तत्सम्वत् यन्त्र विभाति तत्सरः।

अर्थात् सूर्य का जो प्रकाशमान भाग है, वह 'सम्वत्' है और जो भाग अन्धकार में डूबा है, वह 'सार' है। अत: सूर्य सम्वत्सर है। इससे यह सिद्ध होता है कि सूर्य में भी धब्बे हैं।

इसी प्रकार ऋग्वेद में एक अत्यन्त रहस्यमय मन्त्र इस प्रकार मिलता है—

या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा।
मनै नु बभ्रूणामहम् शतं धामानि सप्त च॥

(ऋग्वेद 10/97/1)

अर्थात् जो औषधियां मनुष्यों से तीन चतुर्युगी पूर्व उत्पन्न होती हैं, उनके 107 नाम हैं और 107 स्थान हैं। आजकल इन 107 औषधियों का नाम कोई नहीं जानता, परन्तु निरुक्त में और ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रयोग के 107 स्थानों का वर्णन मिलता है। वे स्थान और कहीं नहीं, मानव शरीर के ही 107 मर्मस्थान हैं। आयुर्वेद में '**सप्तोत्तरमर्मशतं भवति**' का यही अभिप्राय है।

इसी प्रकार ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों में सूर्य की कक्षा में घूमने वाले नक्षत्रों का उल्लेख मिलता है। वायु को नक्षत्रों की गति में सहायक बताया गया है।

वेदों में विज्ञान आदि के ज्ञान के लिए अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें प्रमुख हैं—'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका,' 'वैदिक ज्योति,' 'वैदिक इतिहास विमर्श,' 'वैदिक विज्ञान विमर्श,' 'सांइसेज़ इन द वेदाज़' आदि।

'सोमरस' के प्रसंग में तथा औषधि आदि के निर्माण में रसायन-विज्ञान का उत्तम परिचय वेदों में प्राप्त होता है।

वेदों में साहित्य का स्वरूप

विज्ञान की सम्भावनाओं के साथ-साथ वैदिक मन्त्रों का साहित्यिक विवेचन

भी किया जाता है। महर्षि दयानन्द के अनुसार मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार करने वाले वैदिक ऋषि 'मन्त्रद्रष्टा' कहे जाते हैं। छन्दः पद से वैदिक छन्दों को ग्रहण किया गया है। वेद में गायत्री आदि सात छन्द विस्तार और भेदों सहित पाये जाते हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल के एक सौ तीसवें सूक्त में 'गायत्री', 'उष्णिम्', 'अनुष्टप,' 'बृहती,' 'त्रिष्टुप्' और 'जगती' छन्दों के नाम पाये जाते हैं—

अग्नेगीयत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्बृहस्पतेर्बृहती वाचमावत्॥
(ऋग्वेद 10/130/4)

अर्थात् अग्नि, जो यज्ञ और मन्त्र का देवता है, उससे सम्बद्ध गायत्री छन्द, उष्णिम् छन्द से सम्बन्धित सविता, स्तुत शास्त्रों से युक्त अनुष्टप छन्द से सम्बद्ध तेजस्वी सोम और वृहती छन्द से सम्बद्ध बृहस्पति उत्पन्न होते हैं। भाव यही है कि यज्ञ के देवों और मन्त्रों के विषयों का सम्बन्ध इन छन्दों से होता है।

इसी प्रकार विराट् छन्द का सम्बन्ध मित्र और वरुण से माना गया है तथा त्रिष्टुप् छन्द इन्द्र के आश्रित हैं। इन्द्र का जन्म इन छन्दों के प्रयोग से होता है, यह इसका भाव है। अन्य सभी देवों का सम्बन्ध जगती छन्द से है। ये छन्द ऋषियों द्वारा यज्ञ के लिए रचे जाते थे।

इन छन्दों का अक्षर विन्यास में विशेष महत्त्व होता है। इन छन्दों के साथ ही संगीत के सप्त स्वरों का उल्लेख भी वेदों में हुआ है। निषाद, धैवत आदि गान के स्वरों का वर्णन महर्षि दयानन्द ने किया है। ऋग्वेद और यजुर्वेद में इन स्वरों का वर्णन प्राप्त होता है। इस प्रकार साहित्यिक दृष्टि से भी वेद की ऋचाओं का बड़ा महत्त्व है।

वेदों की भाषा वैदिक संस्कृत है। इसे देववाणी भी कहा गया है। यह भाषा आज के पाठकों के लिए क्लिष्ट है तथा जिन्हें संस्कृत का ज्ञान नहीं है, उनके लिए तो यह और भी कठिन है, परन्तु ऋषियों ने वेद-मन्त्रों की रचना करते समय एक-एक अक्षर पर विशेष ध्यान दिया है। कोई भी अक्षर व्यर्थ नहीं है। अतः वेदों की भाषा को पढ़ने और समझने के लिए विशेष रूप से अर्जित योग्यता की परम आवश्यकता है।

प्रकृति के मध्य निवास करने तथा यज्ञादि करते रहने से ऋषियों ने अपने पवित्र मन्त्रों के द्वारा जहां प्रकृत देवों और प्रकृति के नियन्ता परमपिता परमेश्वर का आह्वान किया, वहीं सम्पूर्ण वायुमण्डल को शुद्ध, सुगन्धित और पवित्र भी किया। इस दृष्टि से ईश्वरीय ज्ञान से परिपूर्ण वेदों का महत्त्व, विश्व की किसी भी भाषा में लिखे गये ग्रन्थों से सर्वोच्च है। अतिप्राचीन होते हुए भी मानव-जीवन के कल्याण के लिए ये अधिक समीचीन हैं।

□□

'वेद' समस्त सत्य-ज्ञान के भण्डार हैं

अथर्ववेद में एक मन्त्र है, जिसमें कहा गया है कि 'विश्व का रूप वेद में निहित है।'

यस्मात पम्वादमृतं सम्बभूव यो गायत्र्या अधिपतिर्बभूव।
यस्मिन वेदा निहिता विश्वरूपास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥

(अथ. 4/35/6)

अर्थात् जिस परिपक्व (ओदन) से अमृत उत्पन्न हुआ है, जो गायत्री का स्वामी था और है, जिसमें (विश्वरूपा:वेदा:) समस्त शब्दमय ज्ञानरूप वेद निहित है, उस कारणभूत तत्त्व से मृत्यु के पार उतर लूं।

उपरोक्त मन्त्र में 'विश्व-रूप वेद में निहित है' इस भाव को मनन करते हुए सम्भवत: महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेद को सब सत्य विद्याओं की पुस्तक कहा है। उन्होंने यह केवल कहा ही नहीं है, अपितु अपने महान् ग्रन्थ 'ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका' में अपने कथन की प्रामाणिकता में प्रमाण भी प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने वेद-मन्त्रों में बीजरूप में प्रस्तुत 'तार', 'जलयान', 'विमान' आदि की यन्त्र-विद्या का उल्लेख भी किया। 'विद्युत्' का उल्लेख तो वेद-मन्त्रों में बार-बार आता है।

केवल विज्ञान ही नहीं, प्रकृति के रहस्यमय स्वरूप का इतना विशद वर्णन वैदिक ऋषियों ने वेदों में किया है कि चमत्कृत रह जाना पड़ता है। प्रकृति, विज्ञान की ही जन्मदात्री नहीं है, समस्त कलाओं, शिल्प, ज्योतिष, गणित, भौतिकी, रसशास्त्र, आयुर्वेद, खगोल-शास्त्र तथा धर्म की भी जन्मदात्री है। यह प्रकृति ही वेदों का आधार है। वैज्ञानिकों ने आज जो कुछ भी प्रकृति के माध्यम से खोजा है या खोज रहे हैं, उसका बहुत कुछ अंश वैदिक ऋषियों ने हज़ारों वर्ष पूर्व अपने चिन्तन-मनन से प्रकृति के मध्य रहकर खोज लिया था। वे बहुत पहले जान चुके थे कि पृथिवी गोल है और इस अनन्त ब्रह्माण्ड का एक क्षुद्र-सा ग्रह है, जो अन्य ग्रह-नक्षत्रों की भांति इस ब्रह्माण्ड की गति के साथ लयबद्ध है। जबकि पाश्चात्य विद्वान् बहुत काल तक पृथिवी को चपटी ही मानते रहे थे। अपनी धर्म-मान्यता के आधार पर उन्होंने अनेक विरोधी लोगों को कठोर दण्ड भी दिये थे।

शून्य का आविष्कार हज़ारों वर्ष पूर्व भारतीय मनीषियों ने किया था और

गणित के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी थी, यह किसी से आज छिपा तथ्य नहीं है। इसलिए ज्ञान के विशाल नवरत्नों की खोज के लिए पाश्चात्य विद्वान् भी विश्व की प्राचीनतम पुस्तक 'वेद' को ही उलटते-पलटते रहते हैं और उन्हें इस ग्रन्थ ने कभी निराश भी नहीं किया है। वह बात दूसरी है कि अपने वर्चस्व को सिद्ध करने के लिए कुछ पाश्चात्य विद्वान् वेदों की उपयोगिता और महत्ता पर प्रश्नचिह्न खड़े करते रहे हैं। यथा, जर्मन विद्वान् मैक्समूलर वेद को तुच्छ और हीन बताकर 'बाइबल' की महत्ता का प्रतिपादन करते हैं—

"I wanted to tell... what the true historical value of his ancient religion is, looked upon, not from an exclusively European or Christian, but from historical point of view. But discover in it, steam engines and electricity and European philosophy and morality and you deprive it of its true character."

(बाईराम जी मालाबारी को लिखे पत्र से)

(मैं बताना चाहता था—सत्य क्या है, प्राचीन धर्म का ऐतिहासिक मूल्य क्या है। इसे मैंने पाश्चात्य अथवा ईसाई दृष्टि से नहीं देखा, परन्तु जब इस वेद धर्म में 'वाष्पयन्त्र', 'विद्युत्' और पाश्चात्य दर्शन तथा आचार का आविष्कार करते हो, तो तुम इसके सत्य स्वरूप को नष्ट करते हो)।

मैक्समूलर की दृष्टि में वेद क्या है? इसे वे अपने एक अन्य पत्र में स्पष्ट करते हैं—

"Would you say that any one sacred book is supreior to all other in the world?...I say the New Testament, after that I should place the Koran, which in its moral teachings, is hardly more than a later of the New Testament, then would follow...the Old Testament, the southern Budhist Tripitika...the Veda and the Avesta."

(संसार की समस्त धर्मपुस्तकों में 'न्यू टेस्टामेन्ट' (नयी प्रतिज्ञा बाइबल) सर्वोत्तम है। इसके पश्चात् क़ुर्आन—जो आचार की शिक्षा में नयी प्रतिज्ञा का रूपान्तर है—को रखा जा सकता है। इसके पश्चात् पुरातन प्रतिज्ञा (ओल्ड टेस्टामेन्ट), फिर दाक्षिणात्य बौद्ध त्रिपिटिक, फिर वेद और अवेस्ता आदि को)

(भारतवर्ष का बृहत् इतिहास-भगवद्दत्त)

यह दूषित मनोवृत्ति और भी कितने ही पाश्चात्य विद्वानों की रही थी और आज भी वेदों को पुरातन कहकर नकार दिया जाता है। कहा जाता है कि उनका आज के सन्दर्भ में कोई महत्त्व नहीं है। यह प्रवृत्ति पूरी तरह से अमान्य है। संस्कृत भाषा को न जानने के कारण ही ऐसा मिथ्यारोप किया जाता है। आज कोई उस भाषा को न तो जानना चाहता है और न वेदों के भीतर छिपे ज्ञान को पाने के लिए

अध्ययन करना चाहता है; क्योंकि यह श्रमसाध्य साधना है। आज के साधकों से यह आशा भी नहीं की जा सकती कि वे इतना परिश्रम करेंगे। इसलिए वे भी पाश्चात्य स्वरों में ही स्वर मिलाकर अपनी प्राचीनतम और समृद्ध धरोहर को नकारने में देर नहीं लगाते। इस प्रकार वे अपनी मूढ़ता पर परदा ही डालते हैं।

सायणाचार्य द्वारा लिखित 'चारों वेदों की भूमिका' के सम्पादक पण्डित बलदेव उपाध्याय लिखते हैं—"समाज-विशेष से प्रेम रखने वाले कुछ लोग बहुत परिश्रम से वेद पढ़ते हैं, किन्तु मन्त्रों के उच्चारण में उनकी दुर्गति करते हैं। ये लोग वेदों में आधुनिक पाश्चात्य वैज्ञानिकों द्वारा आविष्कारित रेलगाड़ी, वायुयान, ट्राम, टेलीग्राफ़ और टेलीफोन आदि को वेदों की देन कहते हैं। जबकि वेदों में इनकी कल्पना भी नहीं की गयी थी। सभी वैज्ञानिक आविष्कार, जो अब तक हो चुके हैं और आगे चलकर होंगे, उनकी खान वे वेदों को ही मानते हैं, परन्तु विद्वान् लोग इस मान्यता को ठीक नहीं मानते।"

परन्तु हमारा कहना यह है कि उनकी यह टिप्पणी भी उचित नहीं है कि 'कुछ लोग वेदों को ही वैज्ञानिक उपलब्धियों की खान मानते हैं।' ऐसा लगता है कि यह टिप्पणी उन्होंने विशेष रूप से आर्यसमाजियों से चिढ़कर की है। यह उनकी ज़्यादती है। आर्यसमाज के किसी भी प्रवक्ता ने वेदों में रेलगाड़ी, ट्राम, टेलीफ़ोन आदि की बात नहीं कही है। नौकायान, वायुयान और तारयन्त्र की बात का उल्लेख अवश्य किया है, परन्तु यह बात भी बिना किसी प्रमाण के नहीं कही गयी है।

सबसे पहले 'तार' की बात लेते हैं। वैदिक ऋषि 'टैलीपैथी' के सिद्धान्त को जान चुके थे, इसमें दो राय नहीं हैं। उनका चिन्तन पक्ष और मन का एकाधिकार इतना अधिक था कि वे बिना किसी तार-यन्त्र के द्वारा अपनी बात एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचा सकते थे। मन के द्वारा सुदूर मन तक अपनी बात को पहुंचाना आज 'टैलीपैथी' कहलाता है, जबकि उस काल में इसे 'शक्तिपात' कहा जाता था। क्या इसी से उद्बुद्ध होकर वर्तमान तार-यन्त्र का आविष्कार सम्भव न हुआ होगा?

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि प्रकृति के मध्य ही समस्त आविष्कारों के बीज निहित हैं। वैदिक ऋषियों ने इन्हीं बीज मन्त्रों का आविष्कार किया था, जो कि आज के वैज्ञानिक सोच के मूल आधार हैं।

'नौकायान' से ही विकसित होकर आज के बड़े-बड़े जहाज़ों का निर्माण सम्भव हो सका है। यह नौकायान वैदिककाल से ही चला आ रहा है। नदियों में

यात्रा करने के लिए नौकाओं का ही प्रयोग किया जाता था। वेदों में स्थान-स्थान पर नौका का उल्लेख मिलता है।

यही नहीं, अनेक मन्त्रों में वायुयान का उल्लेख भी प्राप्त होता है। यह मन्त्र देखिये—

अभिक्रन्दन स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्तिप्रदिशश्चतस्त्रः ॥

(अथर्व. 11/5/12)

इसमें **अभिक्रन्दन** का अर्थ है—शोर करता हुआ, गरजता हुआ।

शितिङ्ग का अर्थ है—प्रकाश और अन्धकार में चलने वाला।

अरुण का अर्थ है—सूर्य के समान प्रतापी गतिमान।

ये तीनों अर्थ गतिमान विमान के लिए प्रयोग किये गये हैं, जो प्रकाश और अन्धकार में शोर मचाता हुआ पृथिवी और पर्वतों पर पड़े बीजों को सींचता है।

किन्तु यहीं पर 'वायुयान' का अर्थ उन बादलों से भी लिया जा सकता है, जो गर्जन करते हुए दिन और रात में वर्षा के जल से पृथिवी को उपजाऊ बनाते हैं। वे वायु द्वारा ही परिचालित होते हैं।

परन्तु इस मन्त्र में पुरुषार्थी ब्रह्मचारियों द्वारा यह कृत्य दिखलाया गया है। बादलों का संचालन ब्रह्मचारी नहीं करते। वे निश्चित रूप से ऐसे यन्त्रों के जानकार रहे होंगे, जो आकाशमार्ग से कृषियोग्य भूमि, मैदानों और पर्वतों को सींचते होंगे। वे यन्त्र निश्चय ही वायुयान ही हो सकते हैं।

बहुत से विद्वानों ने महर्षि दयानन्द पर यह आरोप लगाया है कि पाश्चात्य वैज्ञानिक उन्नति को देखकर ही महर्षि ने वेदों द्वारा उन्हीं बातों को दिखाने का प्रयत्न किया हो सकता है, परन्तु इससे उनका अज्ञान ही प्रकट होता है। महर्षि दयानन्द के समय में तो मोटर तक का निर्माण भी नहीं हुआ था और विमान का आविष्कार तो सन् 1901 में हुआ था। महर्षि ने अपनी बात की पुष्टि में ऋग्वेद के कितने ही मन्त्रों का उल्लेख किया है। ऋग्वेद का यह मन्त्र देखिये—

द्वादशः प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत।
तस्मिन्त्साकं त्रिशता न शङ्कवोऽर्पिताः षष्टिर्न चलाचलासः ॥

(ऋग्वेद 1/164/48)

अर्थात् हे मनुष्यो! जिस यान में तीन सौ बांधने वाली कीलों के समान, साथ लगाई हुई साठ कीलों जैसी कीलें, जो कि चल-अचल, अर्थात् चलती और न चलती हुई और उसमें एक पहिया जैसा गोल चक्कर, बारह पहियों की हालें, अर्थात् हाल लगे हुए पहिए और तीन पहियों की बीच की नाभियों में उत्तमता से ठहरने वाली धुरी स्थापित की गयी हो, उसको कौन तर्क-वितर्क से जाने।

महर्षि ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है—'इन यानों के बाहर भी खम्भे रचने चाहिए, जिनमें सब कलायन्त्र लगाये जायें। उनमें एक चक्र बनाना चाहिए, जिसके घुमाने से सब कलचक्र घूमें। फिर उसके मध्य तीन चक्र रचने चाहिए कि एक के चलाने से सब रुक जाएं, दूसरे के चलाने से वह यान आगे बढ़े और तीसरे के चलाने से वह पीछे चले। उसमें तीन सौ बड़ी-बड़ी कीलें, अर्थात् पेच लगाने चाहिए कि जिनसे उनके सब अंग जुड़ जायें और उनके निकालने से सब अलग-अलग हो जायें। उनमें साठ प्रकार के कलायन्त्र रचने चाहिए। कई चलते रहें और कुछ बन्द रहें, अर्थात् जब विमान को आकाश में ऊपर से नीचे उतारना हो, तब ऊपर के मुख को अनुमान से खोल देना चाहिए। इस प्रकार पूर्व को चलाना हो, तो पूर्व के बन्द करके पश्चिम के खोलने चाहिए और यदि पश्चिम को चलाना हो, तो पश्चिम के बन्द करके पूर्व के कल खोल देने चाहिए। इसी प्रकार उत्तर-पश्चिम की दिशाओं में जाने के लिए कार्य करना चाहिए।

इस महान् शिल्प-विद्या को वे ही जान पाते हैं, जिन्होंने साधना द्वारा इस कला को समझा होगा। विज्ञान की प्रतिभा उन्हीं को प्राप्त होती है, जो कठोर अभ्यास और चिन्तन करते हैं।

वेदों में बिजली से चलने वाले विमानों का भी स्पष्ट वर्णन है, जिनका आविष्कार अभी तक नहीं हुआ है। ऋग्वेद का यह मन्त्र देखिये—

आ विद्युन्मद्‌भिर्मरुतः स्वर्कै रथेभिर्यात ऋष्टिमद्‌भिरश्वपर्णैः आ वर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥

(ऋग्वेद 1/88/1)

अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि जैसे पक्षी आकाश में ऊपर-नीचे आकर एक स्थान से दूसरे स्थान को सुखपूर्वक जाते हैं, वैसे ही अच्छी प्रकार से सिद्ध किये हुए तारविद्युत्युक्त प्रयोग से चलाये हुए विमान आदि यानों से आकाश और भूमि व जल में अच्छी प्रकार से जा सकें और अभीष्ट देशों को सुखपूर्वक जा-आकर अपने कार्यों को सिद्ध करके निरन्तर सुख को प्राप्त करें।

इस मन्त्र में 'विद्युन्मद्‌भिः' (बिजली वाले) 'रथैः' (विमानों से) द्वारा बिजली से चलने वाले विमान का स्पष्ट उल्लेख किया गया है।

योगिराज अरविन्द घोष ने अपनी गीता भाष्य की भूमिका में पृष्ठ 34 पर लिखा है—"संजय दिव्यदृष्टि (Clairvoyance) और दूरश्रवण (Clarvience) को पाकर दूर क्षेत्र में होने वाले युद्ध का आंखों देखा हाल धृतराष्ट्र को सुनाने में सफल हुआ था।

यही बात 'मनुस्मृति' में भी कही गयी है—

पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनम्।

अशक्यञ्च प्रमेयञ्च वेदशास्त्रमितिस्थितिः ॥

(मनुस्मृति 12/94)

अर्थात् शुभ-अशुभ को दिखाने वाला पितृदेव मनुष्यों का शाश्वत चक्षु वेद है। संसार के सभी रहस्य वेद-शास्त्र में निहित हैं। यह मर्यादा है। अतीत, वर्तमान और भविष्य में भी होने वाली सभी बातें वेद से सिद्ध हैं—

भूत भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।

अर्थात् अतीत, वर्तमान और भविष्य में मानव-जीवन की सर्वांगीण उन्नति का समस्त अपेक्षित ज्ञान वेदों में प्राप्त होता है।

निस्सन्देह वेदों के ज्ञान की महत्ता को पाश्चात्य विद्वान् अथवा आंग्ल भाषा और संस्कारों में पले-बढ़े लोग कम करके आंकना चाहें, तो भी नहीं आंक सकते। वास्तविकता यह है कि वर्तमान भौतिक विज्ञान में जो उन्नति आज दिखाई पड़ती है, इससे कहीं अधिक उन्नति प्राचीनकाल में हमारे ऋषि-मुनि कर चुके थे, किन्तु उस उन्नति और खोजों को उन्होंने जिन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है, उसे समझने में वर्तमान वैज्ञानिकों से भारी चूक हुई है। जिन वैज्ञानिकों ने उन शब्दों की गहनता और वास्तविक अर्थों को समझा है, वे प्राचीन वैज्ञानिक खोजों से चमत्कृत हो गये हैं। अब वे समझने लगे हैं कि वेदों में 'मित्र' और 'वरुण' जिन देवताओं का उल्लेख मिलता है, उनसे वैदिक ऋषियों का तात्पर्य संकेत करना था। 'मित्र' ऑक्सीजन गैस है, तो 'वरुण' हाइड्रोजन गैस का नाम था, जिनके मिलने से पानी बनता है।

तब वेद को समस्त सत्य ज्ञान को भण्डार या 'वेद सब सत्यविद्याओं की पुस्तक हैं' कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

वेदों में श्रेष्ठ जीवन के चार कर्तव्य

पण्डित शिवकुमार शास्त्री ने 'श्रुति सौरभ' में वेदों का आधार चार उत्तम कर्मों को माना है। उन्होंने अपनी बात के कथ्य सिद्ध करने के लिए अथर्ववेद का मन्त्र (12/5/3) उद्धृत किया है। उस मन्त्र में चार महत्त्वपूर्ण कर्तव्यों की ओर मानव-समाज का ध्यान आकृष्ट किया गया है, जिससे मनुष्य मृत्युपर्यन्त आनन्द से जीवन जी सकता है।

पहला कर्तव्य

परिश्रम के पश्चात् जो वस्तु आपके हिस्से में आती है, उसे अमृत समझ कर ग्रहण करो।

इसका भाव यही है कि अपनी चतुराई के बल पर दूसरे के भाग को हड़पना नहीं चाहिए। संसार में जितने भी युद्ध हुए हैं, उनके मूल में यही कारण है। जब हम किसी दूसरे की वस्तु पर अपना अधिकार जमाने लगते हैं, तभी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

दूसरा कर्तव्य

सत्य की पहचान करके उसका आचरण करना। सत्य क्या है ? यह एक ऐसा प्रश्न है, जिसे हर व्यक्ति जानना तो चाहता है, परन्तु सत्य जानने के उपरान्त उस पर आचरण करना नहीं चाहता। धर्म में आस्था अथवा श्रद्धा का अर्थ सभी धर्मावलम्बी जानते हैं, परन्तु वे सदैव इस तथ्य से मुंह मोड़ लेते हैं कि सत्य-स्वरूप परमात्मा एक ही है। यदि वे एकमत हो भी जायें, तो भी वे उस पर आचरण अपनी सुविधाओं के अनुसार ही करते हैं। दूसरों की प्रणाली उनके गले नहीं उतरती। यहां तक तो ठीक है, किन्तु जब विरोध प्रारम्भ हो जाता है, तभी संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

इसलिए पहले सत्य को जानना परम आवश्यक है। उसे ठीक प्रकार से जानने के उपरान्त ही आचरण करना चाहिए, अन्यथा सब व्यर्थ है।

गैलिलियों जैसे महान् विचारक ने अपना मत स्थापित किया कि 'सूर्य स्थिर है और पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है।' बाइबल में ऐसी मान्यता नहीं थी। तब पोप ने उसे अत्यधिक यातनाएं दिलायीं और उसे दस वर्ष का कठोर कारावास का दण्ड मिला।

तीसरा कर्तव्य

दीक्षा ही तत्त्व वस्तु है। वह निश्चित रूप से आत्मा की रक्षा करती है।

दीक्षा के माध्यम से ज्ञान को जीवन का आन्तरिक अंग बनाया जाता है। ज्ञान के द्वारा ही हम समझ पाते हैं कि इस चराचर प्रकृति का रहस्य क्या है ? कौन है इसका नियन्ता ? हमारे शरीर में जो जीवनी शक्ति निवास करती है, वह क्या है ? यह ज्ञान हमें दीक्षा द्वारा ही गुरु से प्राप्त हो सकता है। इसे ग्रहण करके ही हम अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकते हैं।

चौथा कर्तव्य

सबका जीवन याज्ञिक भावना से पुष्ट हो, प्रतिष्ठित हो। यज्ञ हमारे जीवन का अंग बने।

यह जड़-चेतन संसार के दूसरे के सहयोग से ही परिचालित है। यदि इस श्रृंखला की एक कड़ी भी टूट जाये, तो सभी कुछ बिखर कर रह जाता है। समस्त संसार की एक ही धुरी, अर्थात् एक ही केन्द्रबिन्दु है, जिस पर यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड

घूम रहा है। वैदिक ऋषियों का कहना है कि यज्ञ की पावन भावना ही वह धुरी है, जिस पर सारा संसार घूम रहा है। यज्ञ की भावना में त्याग, दान, संगति, एकता और लोग-कल्याण की भावना निहित है। इनका आचरण करके ही इस ब्रह्मांण्ड की धुरी को एक स्थान पर ही गतिमान रखा जा सकता है।

वेद का आशय यही है कि समस्त सांसारिक सम्बन्ध क्षणिक हैं। केवल परमात्मा के साथ हमारा सम्बन्ध स्थायी है। उसके सान्निध्य का अर्थ है—परम प्रेम, परम आनन्द। प्रभु के स्वरूप के सत्य रूप को समझे बिना आचार-विचार में शुद्धता नहीं आ सकती। सत्य की यह खोज विद्या से ही की जा सकती है। विद्या वही है, जो समस्त दु:खों को छुड़ा दे, अन्यथा सारे प्रयत्न अविद्या हैं।

वेदों का ज्ञान

यह विद्या अथवा ज्ञान कौन-सा है, जो समस्त दु:खों से छुटकारा दिलाता है? वेदों में इसे 'परम ज्ञान', अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान कहा गया है। इस ज्ञान का वाहक ऋषियों को बताया गया है—

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीति ब्रह्मणो मनीषाम्।
गावो यन्ति गोपतिपृच्छमानाः सोमं यन्ति मतयो वावशानाः॥

(ऋग्वेद 9/97/34)

अर्थात् ईश्वर से प्राप्त ज्ञान का वाहक ऋषि तीन प्रकार की 'ऋक्', 'यजु' और 'साम' लक्षणयुक्त वाणियों को सत्य की धारणा और परमात्मा की सत्य प्रज्ञा को लोक में प्रचारित करता है। इसलिए वेदवाणी, वाणिपति परमात्मा से पूछती हुई-सी बाहर आती है, अर्थात् ज्यों की त्यों प्रकाशित होती है तथा वेदों को धारण करने वाले ऋषियों का ज्ञान, वेदों द्वारा प्रतिपादित पदार्थों की कामना करती हुई सोम आदि पदार्थों को प्राप्त होती है।

इस मन्त्र का विश्लेषण करते हुए पण्डित शिवकुमार शास्त्री ने इस मन्त्र में चार अन्य प्रमुख बातों की ओर संकेत किया है। पहली—सृष्टि के आदि में दयालु प्रभु ने अपने ज्ञान को ऋषियों के हृदय में दिया। दूसरी—वेदवाणी तीन प्रकार की है। तीसरी—वे वाणियां (ज्ञान) ज्यों की त्यों मनुष्यों तक ऋषियों द्वारा पहुंचीं। ऋषियों ने अपनी ओर से उनमें कोई परिवर्तन नहीं किया है। चौथी—सांसारिक पदार्थों का नामकरण भी वेदों के आधार पर किया गया है। *(श्रुति सौरभ)*

उनका तथ्यपूर्ण विवेचन बताता है कि मनुष्य की अपनी कोई भाषा नहीं होती। उसका अपना कोई ज्ञान नहीं है। जो कुछ भी ज्ञान उसके पास है, वह दूसरों से सीखा हुआ है। सृष्टि के प्रारम्भ में मनुष्य को शिक्षा देने वाले जब कोई माता-

पिता और गुरु नहीं थे, तब उस दयालु प्रभु ने ही अपना ज्ञान ऋषियों के हृदय में प्रकट किया और तभी से ज्ञान की यह धारा अजस्र रूप से बहती चली आ रही है।

कुछ लोगों का कहना है कि मनुष्य ने ज्ञानार्जन प्रकृति के मध्य से किया। उसी में परमात्मा के मन के स्वाभाविक विचार थे और प्रकृति विद्यमान थी। पशु-पक्षियों में यह 'स्वाभाविक प्राकृतिक ज्ञान' ही पाया जाता है, किन्तु मनुष्य को अपने ज्ञान का सतत विकास करना पड़ता है। उसके लिए गुरु अथवा शिक्षक की महती आवश्यकता होती है। यदि ऐसा न होता, तो इस धरती पर रहने वाले असंख्य हब्शियों और कोल-भीलों को भी यह ज्ञान प्राप्त हो जाता। अत: मनुष्य को तो ज्ञान सीखना ही पड़ता है। जबकि अपने स्वाभाविक ज्ञान से मकड़ी अपना जाला पूर लेती है और पक्षी अपना घोंसला तैयार कर लेते हैं। यहां हब्शियों और कोल-भीलों का जो उदाहरण दिया गया है, उसके लिए भी यह कहा जा सकता है कि यदि प्रकृति के मध्य रहते हुए उन्होंने प्रकृति के प्रति जिज्ञासा दिखाई होती, तो उन्हें भी यह ब्रह्मज्ञान अवश्य मिलता, परन्तु वे तो अपना पेट भरने के लिए पशुवध ही करते रहे। वैदिक ऋषियों ने ऐसा नहीं किया । वे अहिंसक ही रहे। उन्होंने प्राणिमात्र से प्रेम किया। उन्हें अपनाया। पशु-पक्षियों को जितने ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह जन्म से ही उन्हें प्राप्त हो जाता है, परन्तु वे उस ज्ञान का विकास नहीं कर सकते। जबकि मनुष्य अपने ज्ञान का सतत विकास करता है। कोई अनपढ़ व्यक्ति पुस्तक हाथ में लेकर ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसी ही कुछ स्थिति प्रकृति की है। एक ज्ञानी व्यक्ति ही उसके रहस्यों को समझ कर उससे लाभ उठा सकता है।

वृक्षों और जड़ी-बूटियों को देखकर एक सामान्य व्यक्ति उन्हें सुन्दर, हरा-भरा व अद्‌भुत तो कह सकता है, किन्तु उनके उपयोगी तत्त्व को कोई गुणी व्यक्ति ही बता सकता है। यह गुण उसे प्रयोग से प्राप्त होता है। ऋषियों ने ऐसे प्रयोग किये थे।

प्रसिद्ध वैज्ञानिक सिसरो ने कहा है— "Nature has given us but small sparks of knowledge which we quickly corrupt and extinguish by our immoralities, fault, and errors, so that the light of nature nowhere appears in its brightness and purity."—(Cicero)

अर्थात् प्रकृति से हमें ज्ञान के केवल छोटे-छोटे दीपक मिले हैं, पर उन्हें भी हम अपने दुराचरणों, दोषों और भूलों से बुझा देते हैं। सार यही है कि प्रकृति का प्रकाश अपनी पवित्रता और दीप्ति में कहीं भी प्रकट नहीं होता।

इससे यही प्रकट होता है कि ईश्वरीय ज्ञान के बिना मनुष्य सभ्य नहीं बन सकता। इसलिए प्रभु ने अपना ज्ञान ऋषियों को दिया। यह ज्ञान उसने मनुष्य और प्राणियों के कल्याण के लिए दिया।

उपर्युक्त मन्त्र की दूसरी बात यही है कि वेद गिनती में भले ही चार हैं, परन्तु ये सभी मन्त्र 'ऋक्', 'यजुः' और 'साम' रूप में ही सिमटे हैं। जो कुछ सत्य है, वह इन तीन वेदों में निहित है।

मन्त्र की तीसरी बात यह है कि प्रभु की वह वाणी, जो स्वयं उन्हीं के द्वारा प्राप्त हुई, पूरी तरह से विशुद्ध और पवित्र है। ऋषियों ने अपनी ओर से उसमें कुछ भी नहीं जोड़ा।

मन्त्र की चौथी बात यह है कि सांसारिक पदार्थों के नाम भी ऋषियों ने वेदों में से ही ग्रहण किये हैं। वेद में शरीर की नाड़ियों का वर्णन है—'इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वती।' ऋषियों ने देखा कि जिस प्रकार ये नाड़ियां रक्त बहाकर शरीर को पुष्ट करती हैं और उसकी रक्षा करती हैं, उसी प्रकार पृथिवी पर बहने वाली नदियां भी पानी बहाकर, प्रदेशों को सींचकर हरा-भरा करती है। वनस्पतियां, फल-फूल और ओषधियां उत्पन्न करती हैं।

इन गुणों की समानता देखकर ही ऋषियों ने नदियों का नाम गंगा, यमुना, सरस्वती रख दिया। सम्भवतः अन्य नाम भी इसी प्रकार रखे गये।

वास्वत में, चारों वेद अनादिकाल से किसी रहस्यमयी शक्ति का अस्तित्व स्वीकार करते आ रहे हैं। वेदों के अध्ययन से यह सम्यक् ज्ञान प्राप्त होता है कि किसी अभीष्ट की प्राप्ति के लिए ही उस रहस्यमयी आदिशक्ति की उपासना चिरकाल से की जाती रही है और उसी के लिए यज्ञ किये जाते रहे हैं। देवता भी उसी आदिशक्ति की सहायता और कृपा के आकांक्षी दिखाई पड़ते हैं।

ऋग्वेद संहिता में ऋषि विश्वामित्र अपनी स्तुति में आदिशक्ति की प्रार्थना करते हुए कहते हैं—'भारतान् जनान ररक्ष।' अर्थात् हे प्रभु! भारतीय प्रजा की रक्षा करो।

इस प्रार्थना से ही स्पष्ट हो जाता है कि हमारे प्राचीन वैदिक ऋषियों ने जो प्रार्थनाएं की हैं और वेदों में जिन मन्त्रों का संकलन किया है, उनमें जनकल्याण की भावनाएं ही प्रमुख रूप से उभकर सामने आयी हैं। सम्पूर्ण वेद-वेदांगों में यह तथ्य स्पष्ट रूप से मुखरित हुआ है कि हमारे आप्त ऋषियों ने अपने इष्ट के प्रति अगाध श्रद्धा को प्रकट किया है। निष्ठापूर्वक की गयी उनकी आराधना में तथा यज्ञ की आहुतियों में उनकी समस्त आध्यात्मिक और भौतिक कामनाएं पूरी होती थीं।

वैदिककाल के उपरान्त, उत्तरवैदिककाल में आध्यात्मिक और लौकिक साधना के लिए जो मन्त्र-सिद्धि तथा तन्त्र-सिद्धि की जाती थीं, उनकी परम्परा आज तक प्रचलित है। भारत में अध्यात्म की इस साधना का लक्ष्य, किसी भी अन्य देश की समानता में सर्वाधिक शुद्ध, प्रबुद्ध और पवित्र रहा है।

अध्यात्मवाद का सीधा सम्बन्ध 'आत्मा' से है। भारतीय ऋषियों ने इस 'आत्मा' के साथ संगति बैठाने की बात कही है। 'आत्मा' को पहचानना ही परमात्मा को पहचानना है। वर्तमान विज्ञान में इस आत्मा का रूप बदलकर 'उर्ज्या' हो गया है। यह 'उर्ज्या' ही आत्मा है। इस प्रकार का समन्वय 'अध्यात्म' और 'विज्ञान' की दूरी को समाप्त कर देता है। इसलिए वैदिक ऋषियों ने वेद-मन्त्रों में 'आत्मा' और 'उर्ज्या' का समन्वय करके 'अध्यात्म' और 'विज्ञान' को भी समन्वित किया है।

वेदों में एक ही परम तत्त्व की महत्ता को स्वीकार किया गया है। यही परम शक्ति अनेक रूपों और नामों से अपने को प्रकट करती है—'**एकं सद्विप्रा बहुदा वदन्ति।**' सत्य एक ही है, किन्तु उसके रूप अनेक हैं।

शरीर और मन के बीच, मन और आत्मा के बीच, आत्मा और परमात्मा के बीच जो अन्तर दिखाई देता है, वह हमारे विचारों के कारण है। कारण यही है कि विचार समग्र चेतना को एक साथ और एक ही समय में पूर्णत: धारण करने में असफल रहते हैं। विचारों की तीव्र गति में से मन एक समय में एक अंश को ही पकड़ पाता है। उसी से वह सत्य का अनुमान लगा लेता है। इसीलिए दोनों के बीच का अन्तर गहराता चला जाता है।

इसलिए वैदिक ऋषियों ने 'ध्यान पद्धति' पर विशेष बल दिया है। ध्यान से ही 'आत्मा' के साथ मन की एकाग्रता हो सकती है और आत्मा को जानने के साथ ही परमात्मा को जाना जा सकता है। ध्यानस्थ योगी विचाररहित हो जाता है। वह निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त करने के साथ ही सत्य का समग्रता के साथ साक्षात्कार करने लगता है। वैदिक ऋषियों ने इसे 'समाधि' की अवस्था कहा है। समाधिस्थ योगी ही 'ब्रह्म' के अनन्त रूप के दर्शन कर पाता है। इस समाधि की अवस्था तक पहुंचने के लिए मन और शरीर को शुद्ध तथा पवित्र बनाना पड़ता है। इसके लिए वैदिक ऋषियों ने 'यज्ञ' का सहारा लिया।

'यज्ञ' से वातावरण शुद्ध होता है। शुद्ध वातावरण में सदाचार और ब्रह्मचर्य की भावनाओं का उदय होता है। ब्रह्मचर्य और शुद्ध-पवित्र भावों के मध्य ही उस 'परम तत्त्व' को जानने तथा उसके सम्पर्क में आने की प्रेरणा जाग्रत होती है। तभी वह साधना की ओर उद्यत होता है और मन, वचन तथा कर्म से समाधि की स्थिति तक पहुंचने के लिए प्रयत्नशील होता है।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने परमात्मा की अज्ञात शक्ति से सम्पर्क साधने के लिए जिस मार्ग का चयन किया था, वही मार्ग अध्यात्म का मार्ग है। विश्व के किसी भी धर्म में इस प्रकार का मार्ग नहीं अपनाया गया। यदि अपनाया भी गया है,

तो वह वैदिक ऋषियों की प्रेरणा से ही अपनाया गया है। वेद वाङ्मय का सर्वाधिक उच्चतम महत्त्व इसी से जाना-समझा जा सकता है। 'ऋग्वेद' की ऋचाओं से स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि प्राचीन ऋषिगण ब्रह्म का ध्यान कर उन्हें अपने सम्मुख प्रकट कर लेने में सक्षम थे।

यही कारण है कि वेद समस्त सत्य-ज्ञान के भण्डार हैं। विश्व का कोई साहित्य प्राचीनता, नवीनता और गहनता में इनके सम्मुख नहीं टिकता। 'वेद' ईश्वरीय ज्ञान के अपौरुषेय ग्रन्थ हैं; क्योंकि इनमें जिस ईश्वरीय ज्ञान का उद्बोधन हुआ है, वह परमात्मा की प्रेरणा से ही सम्भव हो सकता है।

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति। *(अथर्ववेद)*

अर्थात् 'परमात्मा के काव्य (वेद) को देखो, वह न नष्ट होता है और न मरता है।' यह वेद वाणी तपोरत ऋषियों के हृदय में प्राणिमात्र के कल्याण के लिए ही प्रकट हुई थी।

□□

ऋग्वेद
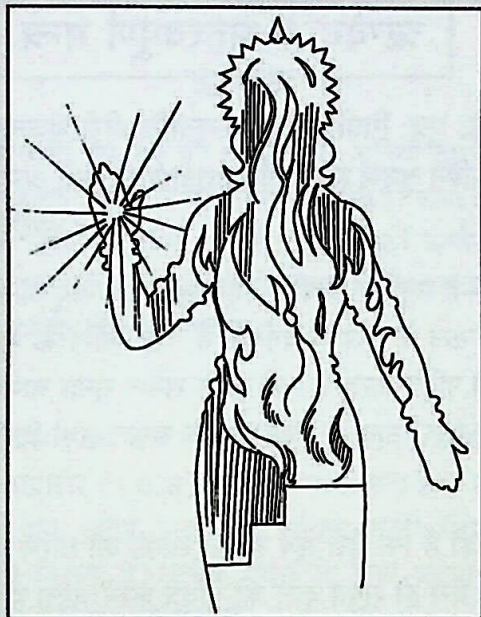
सृष्टि के प्रारम्भ में ऋषियों ने जिस ईश्वरीय ज्ञान का आह्वान किया, वे ऋग्वेद के मन्त्र कहलाए। उन्हें ऋचाओं के नाम से भी पुकारा जाता है। प्रकृति के मध्य ईश्वरीय सत्ता को उन्होंने इन्द्र, अग्नि, वायु, सविता, वरुण, विष्णु और रुद्र आदि देवों के रूप में पहचाना। उनकी स्तुति करते हुए वे ईश्वरीय ज्ञान के सच्चिदानन्द स्वरूप तक पहुंचे। 'यज्ञ की आत्मा' के रूप में परमात्मा से उन्होंने तादात्म्य स्थापित किया। उसी के संसर्ग से उन्होंने प्राणिमात्र के सुख की कामना की। ऋग्वेद के मन्त्रों में जीवन के शाश्वत मूल्यों की स्थापना चमत्कारिक है। ऋग्वेद आस्तिकों का ग्रन्थ है। इसमें ईश्वरीय ज्ञान का सर्वोत्तम स्वरूप विद्यमान है। यहां गुण और गुणी के भेद से पदार्थों का स्तवन किया गया है।

ऋग्वेद के महत्त्वपूर्ण मन्त्र

"स वह्निः पुत्रः पित्रोः पवित्रवान्पुनाति धीरो भुवनानि मायया।
धेनुं च पृश्निं वृषभं सुरेतसं विश्वाहा शुक्रं पयो अस्य दुक्षत॥"

(ऋग्वेद 2/160/3)

अर्थ—हे मनुष्यो! जिसके बहुत शुद्ध कर्म वायु और आकाश के समान सन्तान के रूप में वर्तमान हैं, वह अग्नि के समान समस्त लोकों को पवित्र करता है। जो गौ के समान सुन्दर वाणी और वृषभ के समान बल रखता है, वह सूर्य के समान सभी दिनों को पवित्र करता है।

भाव यही है कि जैसे सूर्य समस्त लोकों को धारण करके पवित्र करता है, वैसे ही सुपुत्र कुल को पवित्र करने वाला होता है।

"न यस्य ते शवसान सख्यमानंस मर्त्यः।
नमिः शवांसि ते नशत्॥"

(ऋग्वेद 8/68/8)

अर्थ—हे सर्वशक्तिमान परमात्मा! आपकी मैत्री को कोई भी मरणधर्मा प्राणी प्राप्त नहीं कर सकता, परन्तु मैं आपकी मैत्री प्राप्त करूंगा, यह आशा न होते हुए भी मैं आपकी वन्दना करता हूं।

भाव यही है कि परमात्मा अत्यन्त शक्तिशाली है। वह अनन्त है। उसकी शक्ति से ही यह सकल संसार शक्ति प्राप्त करता है। उसे पाना असम्भव है, परन्तु उसकी मैत्री परम शुद्ध, पवित्र और सत्यवादी प्राप्त करते हैं। ऐसे जीव इस ब्रह्माण्ड में अत्यन्त अल्प हैं।

ऋग्वेद

'ऋग्वेद' ऋचाओं का वेद है। इसमें ऋषि-मुनियों द्वारा समय-समय पर रचित मन्त्रों का संकलन है। इन मन्त्रों को ही ऋचा कहा जाता है। छन्द और पदों में रचित मन्त्रों को ऋचा नाम दिया गया है। कहीं-कहीं ऋग्वेद संहिता नाम भी प्रचलित है। संहिताओं का अर्थ ऋचाओं के संग्रह से है। इस प्रकार ऋचाओं का संगृहीत स्वरूप 'ऋग्वेद संहिता' कहा जाता है।

रचना-प्रक्रिया

'ऋग्वेद' में दस हज़ार पांच सौ इक्कीस (10,521) ऋचाएं अथवा मन्त्र हैं, जिन्हें एक हज़ार अट्ठाईस (1,028) सूक्तों में बांधा गया है।

'ऋग्वेद' में प्रायः अग्नि, इन्द्र, वायु, सविता, वरुण, विष्णु और रुद्र आदि देवताओं का वर्णन मिलता है। प्रत्येक देवता के लिए अलग-अलग सूक्तों में, थोड़ी-थोड़ी ऋचाएं निश्चित की गयी हैं।

'ऋग्वेद' में इन सूक्तों को मिलाकर 'मण्डल' बनाये गये हैं। सभी सूक्त दस मण्डलों में विभक्त हैं। इन मण्डलों को पिचासी (85) अनुवाकों (अध्यायों) में विभक्त किया गया है। ये अनुवाक ही सूक्तों में विभाजित हैं।

'ऋग्वेद' का एक अन्य विभाजन भी प्राप्त होता है। इस विभाजन के अनुसार ऋग्वेद को आठ अष्टकों में बांटा गया है। ये अष्टक कुछ ऋचाओं के समूह में विभाजित हैं। उन्हें 'वर्ग' नाम दिया गया है। ये वर्ग संख्या में दो हज़ार चौबीस (2,024) हैं, किन्तु यह विभाजन प्रचलन में नहीं है। प्रचलन में अनुवाक सूक्त वाला विभाजन ही सर्वमान्य है।

'ऋग्वेद' के प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में, उसके रचयिता ऋषि, उसमें उपासित देवता का नाम और उस छन्द का नाम लिखा होता है, जिसमें उसे रचा गया है। महर्षि कात्यायन ने अपने ग्रन्थ 'ऋग्वेद-सर्वानुक्रमणी' में इन नामों का उल्लेख करके ऋषियों के रचनाक्रम की महत्ता को प्रकट किया है। कुछ विद्वानों का कहना है कि महर्षि कात्यायन से पूर्व ऋषियों के नामों का उल्लेख ऋचाओं के सूक्तों पर नहीं था। इसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। महर्षि कात्यायन के पास इन नामों के उल्लेख का कोई-न-कोई आधार अवश्य रहा होगा, अन्यथा ऋचाओं के रचयिता

ऋषियों का नाम खोजना बिना किसी संकेत के सम्भव नहीं हो सकता।

यह भी कहा जाता है कि ब्राह्मण ग्रन्थों और अन्य परम्पराओं का अन्वेषण करके सम्भवतः महर्षि कात्यायन ने ऋषियों की सूची बनायी होगी, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों का रचनाकाल से बहुत बाद के हैं। उनमें ऋषियों का जो क्रम आया होगा, वह भी किसी-न-किसी आधार पर निश्चित किया गया होगा। वास्तव में किसी रचना की प्रवृत्ति, उसकी समानधर्मिता, विषय, लक्षण आदि से ही किसी रचना के रचनाकार की तलाश की जानी चाहिए; विशेषकर उस स्थिति में, जबकि उसके रचनाकार का नाम आदि कुछ पता न हो। लेकिन महर्षि कात्यायन ने ऋषियों की जो सूची सूक्तों के प्रारम्भ में दी है, वह निश्चित रूप से वैदिक ऋचाओं के साथ जुड़ी रही होगी और गुरु-शिष्य परम्परा से जब शिष्यगण उन मन्त्रों का जाप करते होंगे, तब निश्चित रूप से उन मन्त्रों के रचयिता का उल्लेख भी करते होंगे। मन्त्रों के साथ गुरु-उपासना की परम्परा भी हमारी भारतीय संस्कृति देन रही है। अतः इन सूक्तों पर ऋषियों का नाम पहले न रहा हो, यह तथ्य कुछ उचित प्रतीत नहीं होता।

विषयवस्तु

देवताओं की स्तुति

'ऋग्वेद' के सभी मन्त्रों में प्रायः अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वायु, वरुण आदि देवताओं की स्तुति की गयी है। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में एक सौ इक्यानवें (191) सूक्त हैं और एक हज़ार नौ सौ छिहत्तर मन्त्र (1,976) हैं।

इस सूक्त में 'अग्नि' को दिव्य पदार्थ के रूप में पूजित किया गया है। यह अग्नि ही ईश्वर का प्रतिरूप है।

यो अग्नि देववीतये हविष्मां आविवासति।
तस्मै पावक मृळम॥

(ऋग्वेद 1/12/9)

अर्थात् हे (पावक) पवित्र करने वाले ईश्वर! (यः) जो (हविष्मान्) उत्तम-उत्तम पदार्थ व कर्म करने वाला मनुष्य (देववीतये) उत्तम-उत्तम गुण और भोगों की परिपूर्णता के लिए (अग्निम्) सब सुखों के देने वाले आपको (आविवासति) अच्छी प्रकार सेवन करता है, (तस्मै) उस सेवन करने वाले मनुष्य को आप (मृळम) सब प्रकार से सुखी कीजिये।

भाव यही है कि जो मनुष्य अपने सत्व भाव, कर्म और विज्ञान से परमेश्वर की स्तुति करते हैं, वे दिव्य गुण, पवित्र कर्म और उत्तर तथा श्रेष्ठ सुखों को प्राप्त करने वाले होते हैं। ऋषि का कहना है कि जिस परमात्मा ने दिव्य गुणों वाली

अग्नि की रचना की है, उस अग्नि से मनुष्यों को उत्तम-उत्तम उपकार ग्रहण करने चाहिए। ईश्वर की भी यही इच्छा है।

'ऋग्वेद' के प्रथम मण्डल में ईश्वरीय उपासना, पुरुषार्थ, विद्या, ब्रह्मचर्य, विद्वानों की श्रेष्ठता, राजा और प्रजा के कर्तव्य, ईश्वर और सूर्य के गुण, वायु और वरुण के गुण, प्रकृति के विविध रूप और गुण, स्त्री-पुरुष के धर्म, सोमलता का महत्त्व तथा गुण, मित्र और अमित्र के गुण तथा अन्न आदि के गुणों का भी व्यापकता से उल्लेख किया गया है। सभी देवताओं की विभिन्न रूपों में स्तुति की गयी है। ऋषियों द्वारा की गयी इन स्तुतियों में किसी प्रकार का आडम्बर नहीं है।

स्तुति के विविध रूप यज्ञों द्वारा प्रतिपादित किये गये हैं। इन यज्ञों में 'अग्नि' को और 'इन्द्र' को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। दोनों को ही परमात्मा का रूप माना गया है। यज्ञों के द्वारा विद्वानों की श्रेष्ठता और उन्हें दक्षिणा आदि देने के महत्त्व का प्रतिपादन भी किया गया है। मन्त्रों के द्वारा एक ओर तो देवता को प्रसन्न करने के लिए यज्ञ में आहुति दी जाती है, तो दूसरी ओर गौ, पुत्र, धन-धान्य आदि के लिए प्रार्थना की जाती है।

परमेश्वर को सबका मित्र माना गया है और वह सूर्य के प्रकाश की भांति सभी को अपनी आभा से प्रतिभासित करता है।

मत्सवा सुशिप्र मन्दिभिः स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे। सचैषु सवतेष्वा॥

(ऋग्वेद 1/9/3)

अर्थात् जिस परमात्मा ने संसार में प्रकाश करने वाले सूर्य को उत्पन्न किया है, उसकी स्तुति करने में जो श्रेष्ठ पुरुष एकाग्रचित्त हैं, वे ही सब सुखों को प्राप्त करने के योग्य हैं तथा दूसरों को सुख देने वाले हैं।

ईश्वर की आराधना और पुरुषार्थ के बिना शरीर और आत्मा को सुख प्राप्त नहीं हो सकता। इसके लिए ऋग्वेद में एक मन्त्र इस प्रकार है—

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति न पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

(ऋग्वेद 1/89/6)

अर्थात् ईश्वर की प्रार्थना और अपने पुरुषार्थ के बिना किसी को भी इन्द्रिय (शारीरिक) और आत्मा (ईश्वरीय कृपा) का परिपूर्ण सुख प्राप्त नहीं हो सकता। अतः उसका (ईश्वर का) अनुष्ठान अवश्य करना चाहिए।

ईश्वर को अनेक नामों से पुकारा जाता है, जबकि वास्तव में वह एक ही है। प्रथम मण्डल के 164वें सूक्त में ऋषि दीर्घतमा ने एक मन्त्र कहा है, जो अत्यधिक प्रसिद्ध है—

इद्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥

(ऋग्वेद 1/164/46)

अर्थात् जिस प्रकार अग्नि आदि पदार्थों के 'इन्द्र' आदि नाम हैं, परमात्मा के 'अग्नि' आदि सहस्रों नाम हैं। परमेश्वर के जितने कर्म और गुणों के स्वभाव हैं, उतने ही उस परमात्मा के नाम हैं। ईश्वर एक ही है, परन्तु लोग उसे विविध नामों से पुकारते हैं। उसे ही इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि आदि कहा जाता है।

इसी सूक्त में स्वामी दयानन्द के 'त्रैतवाद' के सिद्धान्त की स्थापना करने वाला प्रसिद्ध मन्त्र भी है। उसमें जीवात्मा, परमात्मा और प्रकृति का सूक्ष्म सम्बन्ध स्थापित किया गया है। मन्त्र इस प्रकार है—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तमोरन्य पिप्पलं स्वाद्वत्त्मनश्नन्नन्यो अभिचामशीति॥

(ऋग्वेद 1/164/20)

अर्थात् हे मनुष्यो! जो सुन्दर पंखों वाले, समान सम्बन्ध रखने वाले, मित्रों के समान दो पक्षी एक वृक्ष का आश्रय लेते हैं, उनमें से एक उस वृक्ष के पके हुए फल को स्वाद लेकर खाता है और दूसरा न खाते हुए सब ओर देखता है। सृष्टि और स्रष्टा के परस्पर सम्बन्ध का यहां उल्लेख किया गया है। यहां रूपक खींचकर बताया गया है कि जीव और ईश्वर समान कार्य-कारण रूप से ब्रह्माण्डरूपी देह का आश्रय लेते हैं। एक अनादि ब्रह्म से अलग, जीवरूप से पाप-पुण्य से उत्पन्न सुख-दु:ख को भोगता है और दूसरा जो स्वयं ब्रह्म है, तटस्थ भाव से जीव को सभी तरह के दु:ख-सुख को भोगते हुए देखता रहता है। वह उसका साक्षी है। ऐसा सभी को जानना चाहिए।

जीव, जगत् और परमात्मा—ये तीन तत्त्व अनादि और नित्य हैं। समस्त जीव पाप-पुण्य के फलों को भोगते हैं और ईश्वर न्यायाधीश के समान उन्हें देखता रहता है। पूरे ऋग्वेद में, इसी प्रकार की चिन्तनधारा प्रवाहित है, जो ऋषि-मुनियों की तात्त्विक विवेचना का प्रमाण है।

यह सृष्टि कहां से और कैसे उत्पन्न हुई व इसका स्रष्टा कौन है, इन प्रश्नों की खोज ही आर्य ऋषि-मुनियों के चिन्तन का आधार था। जिसने इस सृष्टि को जन्म दिया, जो इस प्रकृति का नियन्ता है, उसी परमात्मा को यज्ञ में हवि देकर, ऋषि-मुनि उपासना किया करते थे।

ऋग्वेद में 'इन्द्र' को ही ईश्वर माना है। जिस प्रकार इस पृथिवी से बड़ा सूर्यलोक है और वह सभी को प्रकाश देता है, उसी प्रकार इन्द्र, यह सर्वव्यापक ईश्वर, सभी को ज्ञान का प्रकाश और बुद्धि, बल तथा धरती से उत्पन्न अन्न प्रदान करके सबका पालन करता है।

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।
महां अभिष्टिरोजसा॥

(ऋग्वेद 1/9/1)

अर्थात् ईश्वर (इन्द्र) इस संसार के अणु-परमाणु में व्याप्त सभी की रक्षा करता है, उसी प्रकार, जैसे सूर्य सभी लोकों में सबसे बड़ा होने पर सभी पदार्थों को प्रकाश देता है।

सूर्य और वायु द्वारा समस्त ऋतुओं का संरक्षण और संवर्धन होता है। इसलिए आर्य ऋषियों ने सूर्य और वायु की उपासना भी की है। इस प्रकार पदार्थ विद्या की सिद्धि के लिए वायु और अग्नि की अनिवार्यता को ऋषियों ने मुख्य हेतु स्वीकार किया है। अग्नि और वायु के सहचरों के रूप में अश्वि (गुणों का प्रकाश करने वाले), सविता (सूर्य), अग्नि, देवी इन्द्राणी, वरुणानी, अग्नायी, आद्या पृथ्वी, भूमि, विष्णु आदि की कल्पना की गयी तथा उनके अर्थों को सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट भी किया गया।

अनेक मन्त्रों में अग्नि के दृष्टान्त से राजपुरुषों के गुणों का भी वर्णन किया गया है। विद्या और पुरुषार्थ से सुख की प्राप्ति होती है। विद्वानों के साहचर्य से ज्ञान की उपलब्धि होती है। श्रेष्ठ व्यक्तियों के साथ मित्रता और दुष्टों पर अविश्वास की प्रेरणा तथा ऐश्वर्य-प्राप्ति और सुमार्गगामी होने का उपदेश दिया गया है।

धर्म साधना

'धर्म' की प्राप्ति के लिए सभी विषयों का श्रवण करना, मित्र से प्रीति, सत्संगति, सहकारिता से कार्य करना, उत्तम व्यवहार करना, धर्म का अनुष्ठान करना, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विद्या अर्जन करना, माता-पिता के महत्त्व को प्रतिपादित करना, प्राणवायु द्वारा शरीर की रक्षा करना, स्त्री-पुरुष के पारस्परिक महत्त्व को बताना, रात्रि और प्रभात के गुणों द्वारा स्त्री-पुरुष के कर्तव्यों को बताना, विद्वानों और राजधर्म का वर्णन, सोमलता के गुणों का वर्णन, शिक्षक और शिष्य के सम्बन्धों का विश्लेषण, मेधावी कर्मों का वर्णन तथा विषहरण ओषधियों के विषय में ऋषि-मुनियों ने अनेक मन्त्र रचे। इन सभी मन्त्रों का उल्लेख प्रथम मण्डल के सूक्तों में विस्तार से प्राप्त होता है।

एक स्थान पर आङ्गिरसः सव्य ऋषि कहते हैं—

त्वं भुवः प्रतिमानं पृथिव्या ऋष्ववीरस्य बृहतः पतिर्भूः।
विश्वमाप्रा अन्तरिक्षं महित्वा सत्यमद्धा नार्करन्यस्त्वावान्॥

(ऋग्वेद 1/52/13)

अर्थात् हे परमेश्वर! जैसे आप ही सब जगत् की रचना, परिणाम, व्यापक

और सत्य का प्रकाश करने वाले हैं और आपके सदृश कोई भी पदार्थ नहीं है, न हुआ है और न होगा, ऐसा जानकर ही हम आपकी उपासना करते हैं।

ऋग्वेद के द्वितीय मण्डल से सप्तम मण्डल तक के मन्त्रों में एक अद्‌भुत एकरूपता लक्षित की जा सकती है। इनमें प्रत्येक मण्डल का एक-एक ऋषिवंश से सम्बन्ध दिखाई पड़ता है। इन्हें 'वंशज मण्डल' कहना अधिक समीचीन प्रतीत होता है। ये मण्डल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वसिष्ठ ऋषियों के वंशजों से सम्बन्धित हैं। सब सूक्तों का क्रम भी एक जैसा ही है। प्रत्येक मण्डल का प्रथम सूक्त 'अग्नि' को अर्पित है। उसके बाद 'इन्द्र' के सूक्त आते हैं और अन्त में अन्य देवों की उपासना से सम्बन्धित सूक्त हैं। इसी प्रकार अष्टम मण्डल का सम्बन्ध भी, इन्हीं सूक्तों के ऋषि-वंशजों की भांति कण्व ऋषि के वंशजों से सम्बन्धित है, परन्तु इस मण्डल में कुछ सूक्त कण्व ऋषि के वंशजों से अलग कुछ अन्य ऋषियों से तथा उनके वंशजों से जुड़े हुए हैं।

नवम मण्डल के सूक्त 'सोम' देवता को समर्पित हैं। इस मण्डल के सूक्तों पर अधिकतर उन्हीं ऋषियों के नाम हैं, जिनके नाम 'दो' से 'सात' मण्डल तक के हैं।

प्रथम मण्डल की भांति दशम मण्डल में भी ऋषि, देवता और छन्द, सभी में विविधता के दर्शन होते हैं। अधिकांश विद्वान् इन मण्डलों के वर्ण्य-विषय, भाषा और छन्दों को देखकर इन्हें अर्वाचीन मानते हैं, परन्तु उनकी इस मान्यता में कोई विशेष दम नहीं है; क्योंकि प्रायः सभी मण्डलों में वर्ण्य-विषय और भाषा तथा छन्दों की समानता लक्षित की जा सकती है। यदि लोकप्रियता की दृष्टि से 'प्रथम' और 'दशम' मण्डल के मन्त्रों को विशिष्टता प्राप्त हुई, तो यह उन मन्त्रों की विषय-वस्तु के कारण ही प्राप्त हुई है।

आज सभी विद्वान् इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के मन्त्रों की रचना किसी एक व्यक्ति और एक काल की नहीं है। ये मन्त्र समय के साथ-साथ उत्तरोत्तर रूप से रचे जाते रहे होंगे। ऋषि-मुनियों ने प्रकृति के मध्य बैठकर जो चिन्तन-मनन किया, यह उसी की सतत प्रक्रिया है। शनैःशनैः संचित होने वाली यह ज्ञान-राशि, भारतीय संस्कृति की आधारभूत सामग्री है। इसकी रचना में एक-दो वर्ष का समय नहीं लगा था। इसमें शताब्दियां लगी हैं। यह ऋषि-मुनियों की निरन्तर की जाने वाली साधना का ही प्रतिफल है।

जैसा कि पूर्व में ही कहा गया है कि ऋग्वेद के सभी मण्डलों में जिन मन्त्रों का निर्माण हुआ है, उनमें अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वायु, वरुण, पृथिवी, विद्युत्, सोम, विद्वान्, जीव, परमात्मा और धर्म आदि देवताओं की ही उपासना में लिखे गये मन्त्र हैं। उन्हीं के दृष्टान्तों से राजा-प्रजा, शिक्षक-शिष्य, स्त्री-पुरुष, मित्र-शत्रु आदि की मीमांसा की गयी है और उनके गुण तथा कर्तव्यों का बखान किया गया है।

देवताओं के रूप में पंच महाभूतों—अग्नि, जल, वायु, आकाश और पृथिवी को ही देवता मानकर यज्ञ में आहुतियां दी हैं। इन्द्र यहां पर देवताओं का स्वामी देवराज इन्द्र नहीं है, अपितु वह परमेश्वर का ही प्रतिरूप है। जीवात्मा उसी परमात्मा की उपासना करती है और अपने लिए धन-धान्य तथा सुख की कामना करती है। भारतीय अध्यात्म दर्शन का सर्वोच्च स्वरूप इन वेद-मन्त्रों में प्राप्त होता है।

गृत्समद ऋषि 'अग्नि' के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृगपां नपात्सेदु हिरण्यवर्णः।
हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै॥

(ऋग्वेद 2/35/10)

अर्थात् जो अग्नि पवन के संसर्ग से उत्पन्न हुआ, समस्त पदार्थों को दिखाने वाला, सभी पदार्थों के भीतर रहता हुआ सर्व विद्याओं का निमित्त है, उसको जानकर ही प्रयोजन सिद्ध करना चाहिए।

उत्तम पुरुष के लक्षणों का दिग्दर्शन कराने के लिए विश्वामित्र कुशि को ऋषि ने यह मन्त्र कहा है—

अनु कृष्णो वसुधिती जिहाते उभे सूर्यस्य मंहना यत्रजे।
परि यत्ते महिमानं वृजध्यै सखाय इन्द्र काम्या ऋजिप्याः॥

(ऋग्वेद 3/31/17)

अर्थात् जैसे सूर्य अपने प्रताप से भूमि और प्रकाश का आकर्षण धारण करता है और जैसे भूमि तथा प्रकाश सम्पूर्ण पदार्थों को धारण करते हैं, वैसे ही उत्तम लक्षणों से युक्त पुरुष को महिमा धारण करनी चाहिए और दुर्व्यसनों को त्यागकर मित्रों का सत्कार करना चाहिए।

जीवन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन

इस प्रकार ऋग्वेद में केवल स्तुति पक्ष ही प्रबल नहीं है, वहां जीवन को सर्वांग रूप से उत्तम अथवा श्रेष्ठ बनाने की प्रेरणा भी दी गयी है।

ऋषि विश्वामित्र कुछ ऐसा ही मन्त्र आगे भी कहते हैं, जिसमें ब्रह्मचर्य की महत्ता को दर्शाया गया है—

एना वयं पयसा पिन्वमाना अनु योनि देवकृतं चरन्तीः।
न वर्त्तवे प्रसवः सर्गतक्तः किंयुर्विप्रो नद्यो जोह वीति॥

(ऋग्वेद 3/33/4)

अर्थात् जैसे जलसहित नदियां सभी का उपकार करती हैं और कभी जल से हीन नहीं होतीं, वैसे ही ब्रह्मचर्य से युक्त स्त्री और पुरुष की सन्तानें जन्म लेकर और धर्म सम्बन्धी ब्रह्मचर्य से सम्पूर्ण विद्याओं को प्राप्त कर अपनी विद्वत्ता से सभी का उपकार कर सकती हैं।

मानव कल्याण की भावना

मानव-जाति के कल्याण की भावना ऋग्वेद के प्रत्येक मन्त्र में निहित है। ऋषि-मुनियों ने केवल अपने लिए नहीं, अपितु समस्त मानवता के लिए साधना की थी और उन्हें उदात्त मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित किया था। प्रकृति के मध्य मेघ, नदी, विद्वान्, मित्र, शिल्पकार, नौका, स्त्री, पुरुष सभी के कृत्यों का उन्होंने वर्णन किया और लोकहित में लगने के लिए उन्हें प्रेरित किया।

अज्ञान का त्याग तथा ज्ञान प्राप्ति का लक्ष्य

अज्ञान का त्याग करना ही उनका अभीष्ट था। ज्ञान की प्राप्ति उनका सर्वोच्च लक्ष्य था। मित्रता और प्राणिमात्र के प्रति गहरी संवेदनशीलता उनका धर्म था। शक्ति और आरोग्यता में उनका पूर्ण विश्वास था। पवित्रता और विनम्रता उनका आचरण था। नीरोगी काया केवल उनका ही लक्ष्य नहीं था, वे पशु-पक्षियों तक को नीरोगी देखना चाहते थे। प्रकृति के मध्य सभी जड़-चेतन पदार्थ उनकी सहानुभूति के पात्र थे।

वामदेव ऋषि जीवन-मरण के भय से प्राणी को मुक्त करके निर्भय बनने की प्रेरणा देते हैं—

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षंन्नध श्येतो जवसा निरदीयम्॥

(ऋग्वेद 4/28/1)

अर्थात् मनुष्यों को चाहिए कि सृष्टि-विद्या-बोध और जन्म-मरण की शरीर सम्बन्धी विद्या को जानकर सदैव निर्भय बने। भाव यही है कि जीवन-मृत्यु को समझकर मृत्यु से भयभीत नहीं होना चाहिए।

वास्तव में आर्य ऋषि-मुनि सभी मनुष्यों को यही प्रेरणा देने वाले थे कि जैसे वे अपने लिए उत्तम पदार्थों की कामना करते हैं, उसी प्रकार उन्हें दूसरों के लिए भी उत्तम पदार्थों की कामना करनी चाहिए।

उत्तम आचरण की शिक्षा

यही नहीं, वैदिक ऋषियों ने मनुष्यों को प्रेरणा दी कि उन्हें अग्नि के समान उत्तम आचरण करने वाले होना चाहिए और अविद्या से निवृत्त होकर यश प्राप्त करने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहना चाहिए। जो व्यक्ति समाज के हित के लिए कर्म करते हैं और समाज को सुखी और सन्तुष्ट बनाते हैं, वे व्यक्ति सूर्य की किरणों के सदृश सर्वत्र यश के भागी होते हैं।

श्रेष्ठजन अपनी सन्तान को श्रेष्ठ और उत्तम बनाने के लिए सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। वे उन्हें दुष्ट आचरणों का त्याग करने की शिक्षा देते हैं, उन्हें माता-पिता का आदर करना सिखाते हैं और चोरी जैसे जघन्य पापकर्म से सदैव दूर रहने के लिए उपदेश देते हैं।

'ऋग्वेद' में 'विद्या' और 'दान' कर्म को सर्वश्रेष्ठ माना है। जो व्यक्ति विद्या का दान करता है और गौ आदि के दान से ब्राह्मण तथा निर्धन व्यक्ति का सत्कार करता है, वह उत्तम यश को प्राप्त करता है। प्रत्येक गृहस्थ व्यक्ति को सदैव प्रजा-पालन में अपने को लगाना चाहिए, अतिथि की भरपूर सेवा करनी चाहिए, विद्या का प्रचार करते रहना चाहिए, सभी की सुरक्षा में रत रहना चाहिए तथा राग-द्वेष का त्याग करके निष्काम भाव से जीवन यापन करना चाहिए।

त्वामग्ने अतिथि पूर्व्यं विशः शेचिष्केशं गृहपतिं निषेदिरे।
बृहत्केतुं पुरुरूपं धनस्पृतं सुशम्मीणं स्ववसं जरद्विषम्॥

(ऋग्वेद 5/8/2)

अर्थात् प्रजापालन, अतिथि-सेवा, उत्तम गृह, विद्या का प्रचार, बुद्धि की वृद्धि, सर्व रक्षा तथा राग-द्वेष का निरन्तर त्याग, गृहस्थजन को सदा करना चाहिए।

राजा के कर्म

'ऋग्वेद' में राजा के कर्मों का विश्लेषण भी किया गया है। जो राजा चोर, डाकू आदि को कठोर दण्ड देता है और श्रेष्ठजन का समयोचित सम्मान करता है, उस राजा का राजकोष धन-धान्य से वृद्धि पाता है और उसे संसार में यश प्राप्त होता है तथा वह देवलोक का वासी बनता है।

राजा का प्रथम कर्तव्य यही है कि वह अपनी प्रजा की सुरक्षा का प्रबन्ध करे, राज्य के धनी, विद्वान्, अध्यापक और धर्म का उपदेश देने वाले विद्वानों की केवल रक्षा ही नहीं, अपितु उन्हें धन से, व्यवहार से और सम्मान से सुखी करे तथा इस प्रकार समाज की उन्नति में सहयोग करे।

यदि कोई राजा होने की इच्छा करता है, तो उसके लिए आवश्यक है कि वह श्रेष्ठ आचरणधारक हो, वह सभी शास्त्रों में पूर्ण रूप से निष्णात हो, स्वच्छ और उत्तम गुणों से युक्त हो, माता-पिता और प्रजापालन में दक्ष हो तथा राज्य की श्रीवृद्धि में अपना पूरा योगदान देने वाला हो।

राजा वही उत्तम होता है, जो दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए गुणीजन से जीवन की यथार्थ शिक्षा को ग्रहण करे और उसी के अनुरूप विनयपूर्वक तथा न्याय द्वारा राज्य का संचालन करे।

यस्ते साधिष्ठोऽवस इन्द्र क्रतुष्टमा भर।
अस्मभ्यं चर्षणीसह सस्नि वाजेषु दुष्टरम्॥

(ऋग्वेद 5/35/1)

अर्थात् हे इन्द्र! सूर्य के समान न्याय से प्रभावित राजन् अपनी बुद्धि से और श्रेष्ठता से प्रजा की रक्षा करे। ब्रह्मचर्य और विद्या के ग्रहण करने से पवित्र होकर युद्धभूमि में दुष्टों का संहार करे। वही राजा राज्य के सम्पूर्ण अंगों को श्रेष्ठता के साथ ग्रहण कर सकता है,जो राज्य की सीमाएं बढ़ाने में समर्थ है।

प्रजा के कर्तव्य

इसी प्रकार वेद की ऋचाओं में प्रजा को भी निर्देश दिये गये हैं—

वृषा ह्यसि राधसे जसिषे वृष्णिं ते शवः।
स्वक्षत्रं ते धृषन्मनः सत्राहमिन्द्र पौंस्यम्॥

(ऋग्वेद 5/35/4)

अर्थात् हे इन्द्र ! प्रजाओं को चाहिए कि जो शक्तिशाली, विद्यानिपुण, विनयी, बुद्धिमान, शूरवीर, न्यायवादी और धर्माचरण से युक्त पुरुष हो, उसे ही राजा बनाना चाहिए।

मनुष्य के विविध रूप

'ऋग्वेद' में सात प्रकार के मनुष्यों का उल्लेख किया गया है—

सप्त मे सप्त शाकिन एकमेकाशताः ददुः।
यमुनायामधि श्रुतमुद्राधो गव्यं मृजे नि राधो अश्व्यं मृजे॥

(ऋग्वेद 5/52/18)

अर्थात् इस संसार में मूढ़, मूढ़तर, मूढ़तम, विद्वान्, विद्वत्तर, विद्वत्तम और अनूचान—ये सात प्रकार के मनुष्य होते हैं।

इसमें शाकिन सामर्थ्यवान् व्यक्ति को कहा जाता है और अनूचान उस व्यक्ति को कहते हैं, जो विद्वान् हो, वेद-वेदांगों का ज्ञाता हो, विनम्र हो और सुशील हो।

वे व्यक्ति, जो अशुद्ध व्यवहार, दुष्ट आचरण, लम्पटता, चुगलखोरी, कुसंगी और लापरवाह होते हैं, उन्हें ज्ञान की प्राप्ति कभी सम्भव नहीं होती। पवित्र आहार-विहार, जितेन्द्रिय, अर्थात् सत्य को समझने वाले, सत्संगी, पुरुषार्थी और विनम्र स्वभाव वाले व्यक्ति ही विद्या को प्राप्त करने वाले होते हैं। जो अध्यापक अथवा उपदेशक अपने श्रेष्ठकर्मों से धर्मात्मा होता है और दूसरों को भी धर्म का उपदेश देता है, वह ऐश्वर्य को प्राप्त करने वाला होता है।

मनुष्य के इसी शुद्ध और पवित्र आचरण के विषय में ऋग्वेद में एक उत्तम मन्त्र आता है—

शं नो देवा विश्वदेवा भवन्तु शं सरस्वती सह धीभिरस्तु।
शमभिषाचः शमु रातिषाचः शं नो दिव्याः पार्थिवाः शं नो अप्याः ॥

(ऋग्वेद 7/35/11)

अर्थात् हमारे शुभ गुणों के आचरण से, शुभ गुण और विद्या देने वाले विश्वदेव, अर्थात् परमात्मा, सभी विद्वानों के लिए सुख देने वाले हों। उत्तम बुद्धिमानों के साथ सुखस्वरूप सुशिक्षित वाणी प्रदान करें। जो परमात्मा हमारी आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले हैं, वे हमारे लिए सुखस्वरूप हों। हम जो विद्या-दान करने वाले अध्यापकगण हैं, हमें ईश्वर सुख और शान्ति देवें। शुभ गुण और कर्मों से युक्त पृथिवी पर विचरण करने वाले राजा लोग, जो प्रायः नौकाओं द्वारा जल में विहार करते हैं और मोती आदि पदार्थ प्राप्त करने वाले हैं, वे हमारे लिए सुखकारी हों।

इस मन्त्र का भावार्थ यही है कि मनुष्यों को सदा ऐसा आचरण करना चाहिए जिससे सब विद्वत्जन को, सुन्दर बुद्धि और वाणी देने वाले योगीजन को, राजा और शिल्पकारों (कलाकारों) को दिव्य ज्ञानरूपी पदार्थ प्राप्त हो सके।

मनुष्यों को ऐसा शील धारण करना चहिए, जिससे सज्जनता के गुणों का विकास हो और उनकी प्रीति से सभी पशुओं, विद्वानों और पितृमन को सुख की प्राप्ति हो।

प्राणिमात्र का सुख सर्वोच्च लक्ष्य

इस प्रकार ऋग्वेद की ऋचाओं में सर्वत्र प्राणिमात्र के सुख की कामना की गयी है। न केवल मनुष्य, अपितु पशु-पक्षियों के लिए भी इस सुख की कामना हमारे आर्य ऋषि-मुनि करते हैं। केवल सुख तक ही उनकी सीमा नहीं है। भौतिक सुख-संसाधनों के अतिरिक्त वे उस सर्वव्यापी परमात्मा से सभी के हितों के लिए मोक्ष-प्राप्ति की कामना करते हैं।

केवल पुरुष के लिए ही आर्य ऋषि सुख और मोक्ष की कामना नहीं करते, स्त्रियों के लिए भी वे श्रेष्ठता और सम्मान की कामना करते हैं। उनका कहना है कि जैसे पांच ज्ञानेन्द्रियां और पांच कर्मेन्द्रियों के बीच मन की वाणी सुन्दर शोभा प्राप्त करती है तथा जैसे जल से भरी हुई नदी शोभा से युक्त होती है, उसी प्रकार विद्या और सत्य की कामना करने वाली स्त्री श्रेष्ठता और सम्मान को प्राप्त करती है। इसी प्रकार माता की श्रेष्ठता के विषय में वे कहते हैं—

आ पुत्रासो न मातरं विभृत्राः सानौ देवासो बर्हिषः सदन्तु।
आ विश्वाची विदथ्यामनक्त्वग्ने मा नो देवताता मृधस्मः ॥

(ऋग्वेद 7/43/3)

अर्थात् वही माता उत्तम है, जो ब्रह्मचर्य से विदुषी होकर सन्तानों को जन्म दे

और अच्छी शिक्षा देकर विद्या से उन्हें उन्नत बनाये। वही पिता श्रेष्ठ है, जो हिंसात्मक दोषों से रहित सन्तान उत्पन्न करे। वस्तुतः इस संसार में वे ही विद्वान् प्रशंसा के योग्य होते हैं, जो माता के समान मनुष्यों को पालते हैं।

अध्यापक-शिष्य परम्परा की श्रेष्ठता का निर्वाह

जो विद्वान् दुष्टता से सभी को दूर करने वाले होते हैं, अर्थात् अपने शिष्यों को प्रत्येक बुराई से बचाने वाले होते हैं, उनकी सभी प्रकार से रक्षा करने वाले होते हैं, विद्या और ऐश्वर्य देने वाले होते हैं और सदैव सुख तथा सन्तोष देने वाले होते हैं, ऐसे विद्वानों की सेवा अवश्य करनी चाहिए और उनसे ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। जिस प्रकार सूर्य सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करता है, वैसे ही श्रेष्ठ अध्यापक और उपदेशक सभी मनुष्यों की आत्मा को प्रकाशित करके उन्हें परमपिता परमात्मा की ओर प्रेरित करते हैं।

यह परमपिता परमात्मा ऋग्वेद में अग्नि, वायु, वरुण, इन्द्र आदि अनेक नामों से पुकारा गया है। इसे 'सोम' देवता के रूप में भी माना जाता है। वही इस सृष्टि का जनक है और वही संहारकर्ता है।

प्रति स्तोमेभिरुषसं वसिष्ठा गीर्भिर्विप्रासः प्रथमा अबुध्रन्।
विवर्तयंतीं रजसी समंते आविष्कृण्वतीं भुवनानि विश्वा॥

(ऋग्वेद 7/80/1)

अर्थात् इस संसार के सम्पूर्ण भुवनों की रचना करते हुए परमात्मा ने वेदवेत्ता ब्राह्मणों को बोध दिया और उन विशेष गुणसम्पन्न विद्वानों ने प्रत्येक उषाकाल में यज्ञरूप वाणी द्वारा परमात्मा का स्तवन किया। अन्त समय में रजोगुणप्रधान परमात्मा की शक्ति इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का लय (समाप्त) करती है। उसे प्रलय कहते हैं।

भाव यही है कि संसार की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय ईश्वर की इच्छा पर ही आधारित है। वही परमात्मा इन तीनों अवस्थाओं का कारण है। वह परमात्मा इस संसार की रचना के प्रारम्भ में सर्वप्रथम ऋषियों को वेद का ज्ञान देता है। इससे सारी प्रजा उस रचयिता के नियमों को भली प्रकार से जानकर और उसके अनुसार आचरण करके संसार का सुख भोगती है। तब वही परमात्मा इस संसार का पालन-पोषण करते हुए अन्त में इसका संहार कर देता है।

यहां यह कहना अधिक समीचीन लगता है कि परमात्मा ने पहले सृष्टि का निर्माण किया और अन्य पशु-पक्षियों तथा पेड़-पौधों के साथ बुद्धिजीवी मनुष्य को बनाया। यही मनुष्य जब परमात्मा की सृष्टि के संसर्ग में आया, तभी उसके मन में इस विराट् चेतना के प्रति जिज्ञासा का भाव उत्पन्न हुआ होगा। यह जिज्ञासा का

भाव ही वेदों का जन्मदाता है। ईश्वर द्वारा प्रदत्त यह जिज्ञासा का भाव ही था, जिसने चैतन्य शक्ति को जन्म दिया और उसी से वेदों के मन्त्रों का निर्माण हुआ। इन मन्त्रों का निर्माण जिन लोगों के चिन्तन से सम्भव हो सका, वे ही लोग बाद में आर्य ऋषि कहलाये।

उन्होंने ही जाना कि परमात्मा की दिव्य शक्ति से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव होता है। परमात्मा ही प्रलयकाल के अन्धकार को दूर करता है और दिव्य ज्योति को सर्वत्र फैलाता है। इस अन्धकार को दूर करने के लिए वह सूर्य और अग्नि की रचना करता है। परमात्मा की इस दिव्य ज्योति में कभी विकार उत्पन्न नहीं होता। वह मनुष्यों के कर्मानुसार उन्हें बल, बुद्धि और नित्य नये भावों को प्रदान करती है और अन्त में परमात्मा की अनन्त, असीम, दिव्य ज्योति में लीन हो जाती है।

कर्म का महत्त्व

'कर्म' मनुष्य के जीवन के वे आधार हैं, जिनके द्वारा उसका समस्त जीवन और भविष्य परिचालित होता है, परन्तु कर्मों के मनोरथरूपी सागर में पड़ा-पड़ा मनुष्य बूढ़ा हो जाता है और कर्मों का अनुष्ठान करने से बचता रहता है।

अपां मध्ये तस्थिवां से तृष्णाविदज्जरितारम्।
मृळा सुक्षत्र मृळय॥

(ऋग्वेद 7/89/4)

अर्थात् कर्मों के मध्य में स्थित, वृद्धावस्था को प्राप्त, मुझको तृष्णा व्याप्त हो गयी है। हे परमात्मा! आप मुझको इससे सुखी करें। हे सर्वरक्षक! आप मुझे सुखी बनायें।

भाव यही है कि जिस पर परमात्मा की कृपा होती है, वही कर्मों का अनुष्ठान करके कर्मयोगी बनता है। दूसरे शब्दों में उद्योगी पुरुष को ही परमात्मा अपनी कृपा का पात्र बनाता है, अन्य किसी को नहीं। इस प्रकार उपर्युक्त मन्त्र द्वारा 'कर्मयोग' का उपदेश दिया गया है।

कई लोग इस मन्त्र का अर्थ यह करते हैं कि समुद्र के जल में डूबता हुआ पुरुष जल के देवता वरुण की उपासना करते हुए कहता है कि समुद्र का जल खारा होता है, इसलिए मैं इसे पी नहीं सकता, परन्तु यह अर्थ वेद के आशय से सर्वथा विपरीत है।

जिस प्रकार यजमान लोग अपने यज्ञों में कर्मयोगी पुरुषों को बुलाकर उत्तमोत्तम अन्नादि पदार्थों को भेंट करते हैं, उसी प्रकार परमात्मा भी कर्म करने वाले प्राणियों को उनके कर्मानुसार फल देता है।

अतः यश और ऐश्वर्य की चाहना रखने वाले लोगों को चाहिए कि वे

कर्मयोगी और ज्ञानयोगी विद्वानों को अपने यज्ञकर्म में निमन्त्रित करें और उनसे सुमति का आशीर्वाद प्राप्त करें। विद्वानों के सत्कार के बिना किसी देश का सांस्कृतिक पक्ष प्रबुद्ध नहीं हो सकता। ऋग्वेद के प्रायः प्रत्येक मन्त्र में श्रेष्ठ बुद्धि की कामना परमात्मा से की गयी है।

पवित्र संस्कारों का महत्त्व

यज्ञकर्म से याज्ञिक बना व्यक्ति, स्त्री-पुरुष और आबाल-वृद्ध में पवित्र संस्कारों को जन्म देता है। ये पवित्र संस्कार ही उसे निर्भय बनाते हैं और परमतत्त्व से योग स्थापित करने की प्रेरणा देते हैं।

सम्पूर्ण अनिष्टों को दूर करने वाला ज्ञान, ब्रह्मज्ञान है। यह ज्ञान, विद्या के रूप में माता सरस्वती के गर्भ से जन्म लेता है—

जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः।
सरस्वन्तं हवामहे॥

(ऋग्वेद 7/96/4)

अर्थात् शुभ सन्तान की इच्छा करते हुए, पुत्र वाले होने की कामना से दानी लोग ब्रह्म की समीपता चाहते हैं और सरस्वती के पुत्ररूपी ज्ञान को पाने का आह्वान करते हैं।

भाव यही है कि ब्रह्मज्ञान के लिए परमात्मा का आह्वान करो, जो विद्यारूपी सरस्वती माता से उत्पन्न होता है और सम्पूर्ण प्रकार के अनिष्टों को दूर करके वे ही उसके सुपात्र अधिकारी होते हैं, जिन्होंने वेद का अध्ययन किया हो। वस्तुतः देव और मनुष्यों के बीच ऐश्वर्य को भोगने वाला केवल कर्मयोगी ही होता है। वही ब्रह्मज्ञान के प्रति जिज्ञासु हो सकता है।

सोम का महत्त्व

ऋग्वेद में 'सोमरस' के गुणों का वर्णन व्यापक रूप से हुआ है। सोमरस को कुछ लोग सुरा अथवा मदिरा मानते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। यह मन्त्र देखिये—

हृत्सु पीतासो युध्यन्ते दुर्मदासो न सुरायाम्।
ऊधर्न नग्ना जरन्ते॥

(ऋग्वेद 8/2/12)

अर्थात् सोमरस पीने से शरीर पुष्टियुक्त होता है। इससे आह्लाद-आनन्द, बुद्धिवर्धकता आदि गुणों का जन्म होता है। सुरापान की तरह यह मदान्धता अथवा प्रमत्तता और अहंकार उत्पन्न नहीं करता। सुरा की भांति सोमरस बुद्धि का विनाश नहीं करता, शरीर का बल क्षीण नहीं करता, उन्मत्त नहीं बनाता। इसलिए कर्मयोगी लोग परमात्मा से सोमरस पीने के लिए प्रार्थना करते हैं कि इसे ग्रहण करें।

ऋग्वेद में सोमरस बनाने वाले को 'सोता' कहा गया है। इसलिए याज्ञिक लोग सोता से प्रार्थना करते हैं कि हे सोता! शत्रुओं का नाश करने वाले, सभी कर्मों को सहजता से पूर्ण करने वाले, सबके हितकारी कर्मयोगी लोगों को सर्वोत्तम सोमरस भेंट करो, जिसे पाकर और पान करके प्रसन्न हुए वे लोग, अपने सद्‌गुणों की शिक्षा से हमारे अभ्युदय के लिए प्रयत्नशील हों।

'विद्या,' 'धर्म' और 'राजनियम' मनुष्य-जाति को उत्तम और सुशील बनाने के तीन मार्ग हैं, परन्तु इन तीनों में राजनियमों का उल्लंघन करने वाले व्यक्ति को राजदण्ड दिया जाता है। आर्य ऋषियों का कहना है कि जिस प्रकार प्यासे पशु-पक्षी जल पर टूट पड़ते हैं, वैसे ही राजा और उसके मन्त्रियों को अपनी प्रजा की इच्छाओं का ध्यान रखना चाहिए।

यहां आर्य ऋषि इसलिए राजा और उसके मन्त्रीदल को प्रजा द्वारा प्रदत्त सोमरस पान कराने की प्रार्थना कराते हैं कि वे सोमरस पीकर तृप्त हों और प्रजा की रक्षा करें। प्रजा के कल्याण के लिए सोमरस का पान करके वे बलशाली बनें, ताकि वे उनकी रक्षा कर सकें।

स्वस्थ शरीर की प्रेरणा

शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आर्य ऋषियों ने शरीर-रचना पर भी विशेष ध्यान दिया है। उन्होंने लिखा—

त्रिबन्धुरेण त्रिवृता रथेना यातमश्विना।
मध्वः सोमस्य पीतये॥

(ऋग्वेद 8/85/8)

अर्थात् बलदायक प्राण और अपान तथा माधुर्य आदि गुण से संयुक्त वीर्य-शक्ति को विलीन करने के लिए तीन प्रकार के बन्धनों वाले—'वात,' 'पित्त' तथा 'कफ' इन तीनों प्रकृति वाले पदार्थों से बंधे हुए तीन गुण सत्त्व, रजस और तमस, इनके साथ वर्तमान रथ-स्वरूप इस शरीर को प्राप्त हों।

भाव यही है कि 'प्राण' और 'अपान' की गति को नियन्त्रित करके वीर्यशक्ति को शरीर में खपाने के लिए शरीर-रचना का ज्ञान आवश्यक है। इस शरीर में वात, पित्त और कफ, इन तीन पदार्थों की प्रकृति के आधार पर हमारे भीतर 'सतोगुण,' 'रजोगुण' व 'तमोगुण' का विकास होता है, परन्तु जो उपासक शरीर की इस संरचना को भलीभांति जानता है, वह अपने प्राणों और अपान को नियन्त्रित कर लेता है

'प्राणवायु' और 'अपान वायु' के नियन्त्रण से उपासकों का शरीर बलवान् बना रहता है। उनकी वाणी में ओज रहता है और वे प्रभुस्तुति में निरन्तर दिव्य आनन्द को प्राप्त करते रहते हैं।

'प्राण' और 'अपान' शरीर में ग्रहण करने और शरीर से विसर्जित करने की

क्रियाएं हैं। इन्हें स्वस्थ शरीर का मित्र समझना चाहिए। इससे शरीर स्वस्थ बना रहता है।

आर्य ऋषि शरीर-रचना से भली प्रकार परिचित थे और स्वस्थ कैसे रहा जाये, इसे अच्छी तरह जानते थे। वे यह भी जानते थे कि स्वस्थ शरीर से ही जीवनयात्रा सुख और सन्तोष के साथ पूरी हो सकती है। जीवनयात्रा के मुख्य साधक थे—ज्ञान और कर्मेन्द्रियां। प्राणशक्ति के द्वारा इन्हें बलवान् रखा जा सकता है और सुखपूर्वक जीवनयात्रा की जा सकती है।

ईश्वर का गुणगान

एक साधक की जीवनयात्रा में, जब कभी विघ्न पड़ने की सम्भावना हो अथवा विघ्न पड़ ही जाये, तब साधक को परमेश्वर के गुणों का स्मरण करना चाहिए। परमेश्वर के गुणों का विशद वर्णन वेदवाणी में हुआ है। वह सहज और सुखकारक है। उसमें विचित्रता जैसी कोई बात नहीं है। जब साधक वैदिक शब्दों में प्रभु का गुणगान करता है, तब उसे यह आशा होना स्वाभाविक है कि उन गुणों को धारण करने से परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त होगा ही।

ज्ञान, बल, धन आदि की समृद्धि प्राप्त करने में जब कभी रुकावटें आती हैं, तब उपासक उन्हें भगवान् की सहायता से दूर कर सकता है।

आत्मा से साक्षात्कार ही सोमरस का पान करता है। अपने अन्तर में परमात्मा का ध्यान करने से, उसके साथ समागम होता है। जब निरन्तर उसकी चाकरी की जाती है, तब परमात्मा साधक की पुकार सुनता है। यह चाकरी शुद्ध मन से करनी चाहिए—

इन्द्र शुद्धो हि नो रयिं शुद्धो रत्नानि दाभुषें।
शुद्धो वृत्राणि जिघ्नसे शुद्धो वाजं सिषाससिं॥

(ऋग्वेद 8/96/9)

अर्थात् परमेश्वर मनुष्य को अन्न, बल, धन जो कुछ भी प्रदान करते हैं, वह सब हम तभी प्राप्त करते हैं, जब उसके शुद्ध रूप को भलीभांति अपने हृदय-पटल पर अंकित करके उसकी प्रेरणा से प्रेरित कर्मों के अनुसार अपना व्यवहार बना लेते हैं।

विराट् शक्तिमान् परमेश्वर इस अद्‌भुत सृष्टि के माध्यम से ही प्रकट है। उसे भला कौन अनुभव नहीं करता? उचित बोध, प्रेरणा और विश्वास के बिना, मनुष्य उसे देखकर भी अनदेखा कर देता है। इस सृष्टि में जो कुछ भी विद्यमान है, प्रभु के अधीन है। जो साधक सृष्टि के पदार्थों का बोध प्राप्त करने में व्यस्त रहता है, उसको ज्ञानस्वरूप परमात्मा के कोश का दर्शन अवश्य होता है।

परमात्मा के कोश का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रत्न 'सूर्य' है। ऋग्वेद का सर्वाधिक प्रसिद्ध 'गायत्री महामन्त्र' सूर्य (सविता) से सम्बोधित है। उसके तेज से मनुष्य अपनी बुद्धि को तेजोमय करने की प्रेरणा प्राप्त करता है—

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात॥

(ऋग्वेद 3/62/10)

अर्थात् ओ३म् (सर्वरक्षक परमात्मा), भूः (प्राणों से प्यारा) भुवः (दुःख-विनाशक) स्वः (सुख स्वरूप है), तत् (उस) सवितुः (उत्पादक, प्रकाशक, प्रेरक), वरेण्यम् (वरने योग्य), भर्गः (शुद्ध विज्ञानस्वरूप का), देवस्य (देव का), धीमहि (हम ध्यान करें), धियः (बुद्धियों को), यः (जो), नः (हमारी), प्रचोदयात् (शुभ कर्मों में प्रेरित करे)।

भाव यही है कि *हे परमात्मा! तूने हमें उत्पन्न किया, पालन कर रहा है तू। तुझसे ही पाते प्राण हम, दुखियों के कष्ट हरता है तू। तेरा महान् तेज है छाया हुआ सभी जगह। सृष्टि के कण-कण में तू हो रहा है विद्यमान। तेरा ही धरते ध्यान हम, मांगते तेरी दया। ईश्वर हमारी बुद्धि को श्रेष्ठ मार्ग पर चला।*

इस प्रकार जो मनुष्य समस्त आत्माओं के साक्षी परमपिता परमात्मा की स्तुति और प्रार्थना करके उपासना करते हैं, उनको परमात्मा अपनी कृपा के सागर से शुद्ध आचरणों की ओर प्रवृत्त करते हैं और मनुष्य उनकी कृपा से धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष को प्राप्त करता है।

संयमित जीवन की अनिवार्यता

'ऋग्वेद' में परमात्मा को सब यज्ञों की 'आत्मा' कहा है, अर्थात् देवयज्ञ, ध्यानयज्ञ और ज्ञानयज्ञ उसकी सत्ता के बिना नहीं हो सकते। परमात्मा मनुष्यों को संयमी रहने पर बल देते हैं। इन्द्रियलोलुपता मनुष्य के स्वभाव को बहिर्मुखी बनाती है। संयमी होकर मनुष्य आत्मा को पहचान सकता है और आत्मा में ही परमात्मा का अंश विद्यमान है, ऐसा जानकर आनन्दित हो सकता है।

परमात्मा ने जिस ब्रह्माण्ड की रचना की है, उसमें असंख्य नक्षत्र विद्यमान हैं, परन्तु सभी के मध्य एक ऐसा सन्तुलित संयम है कि वे अपनी-अपनी कक्षा में और अपनी-अपनी धुरी पर स्थित रहते हैं। पूरी तरह गतिशील होते हुए भी वे एक-दूसरे के आकर्षण-विकर्षण से बंधे हुए हैं। यह संयम ही उन्हें बिखरने नहीं देता। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन इन इन्द्रियों के आकर्षण-विकर्षण के मध्य इधर से उधर गतिशील रहता है। अति होते ही सन्तुलन टूट जाता है और जीवन बिखर जाता है।

हमारे वैदिक ऋषियों ने इस संयमित जीवन को विशेष महत्त्व दिया है।

तं त्वा हिन्वन्ति वेधसः पवमान गिरावृधम्।
इन्दविन्द्राय मत्सरम्॥

(ऋग्वेद 9/26/6)

अर्थात् परमात्मा के साक्षात्कार के लिए मनुष्य का संयमी होना परम आवश्यक है। जो पुरुष संयमी नहीं होता, उसको परमात्मा का साक्षात्कार कदापि नहीं हो सकता। संयम मन, वाणी तथा शरीर तीनों का होना आवश्यक है। जो पुरुष अपनी इन्द्रियों का संयम रखता है और मन को वश में रखता है, व्यर्थ बोलकर वाणी-विलास नहीं करता, ऐसा व्यक्ति देवता कहलाता है। संयमी बनना ही मनुष्य-जन्म का सर्वोच्च फल है।

परमात्मा प्राणिमात्र में कभी ऊंच-नीच नहीं मानता। वह सभी को उनके कर्मानुसार फल देता है। जो उद्योगी है, सदाचारी है, उसे ही परमात्मा ऐश्वर्य प्रदान करता है। जो व्यक्ति जीवन-संग्राम में कर्मयोगी बनकर विजय की इच्छा से कर्म करते हैं, परमात्मा उन्हें ही विजयी बनाता है। परमात्मा सूर्य के समान अज्ञानरूपी अन्धकार को दूर करके हमारे हृदय में ज्ञान का दीपक प्रज्वलित करता है।

सम्पूर्ण भूतों की उत्पत्ति और प्रलय का हेतु होने के कारण इस परमात्मा को 'समुद्र' भी कहा जाता है—

त्वम् समुद्रो असि विश्ववित्कवे तवेमाः पञ्च प्रदिशो विधर्मणि।
त्वं द्या च पृथिवी चाति जभ्रिषे तव ज्योतीषि पवमान सूर्य॥

(ऋग्वेद 9/86/29)

अर्थात् हे सम्पूर्ण विश्व के ज्ञाता परमात्मा! तुम समुद्र हो—**'सम्यग् द्रवन्ति भूतानि यस्मात् स समुद्रः'** जिसमें सब भूतों की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय को प्राप्त हो, उसका नाम यहां समुद्र है। तुम्हारी विशेष सत्ता में पांच तत्त्व विद्यमान हैं। आप ही द्युलोक और पृथिवी के प्राणियों का भरण-पोषण करते हैं। यह सूर्य आप ही की ज्योति है। इस महासागर से ही सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होती है।

योग विद्या

ऋग्वेद में 'योग विद्या' का भी वर्णन प्राप्त होता है। यह मन्त्र देखिये—

तव त्ये सोम पवमान निण्ये विश्वेदेवास्त्रम एकादशासः।
दश स्वधामिरधि सानौ अव्यें मृजन्ति त्वा नद्यः सप्त यह्वीः॥

(ऋग्वेद 9/92/4)

अर्थात् सम्पूर्ण देव जो तेंतीस (33) हैं, वे अन्तरिक्ष में विद्यमान हैं। हे

परमात्मा (सोम)! आपके लिए पांच सूक्ष्म भूत और पांच स्थूल भूतों की सूक्ष्म शक्तियों द्वारा आपके उच्च स्वरूप में, जो सर्वरक्षक हैं, उनमें योग करने के लिए सात बड़ी नाड़ियां हैं।

भाव यही है कि 'वेद' में, योग विद्या का वर्णन करते हुए ऋषिवर का कहना है कि सात प्रकार की नाड़ियां इड़ा-पिंगला आदि मनुष्य के शरीर में विद्यमान रहती हैं। योगी पुरुष इन नाड़ियों के द्वारा संयम करके परमात्मा को प्राप्त करता है।

आयुर्वेद

'ऋग्वेद' के दशम मण्डल में 'ओषधियों' के सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन मिलता है। यह आयुर्वेद के अन्तर्गत आता है।

ओषधीः प्रति मोदध्वं पुष्पवती प्रसूवरीः।
अश्वाइव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्ावः

(ऋग्वेद 10/97/3)

अर्थात् पुष्पों वाली, फलों वाली, अश्वों के समान रोग पर विजय पाने वाली, रोगी को नीरोग करने वाली, लताओं वाली ओषधियां रोगी के ऊपर प्रभावशाली होती हैं।

ये ओषधियां माता के समान होती हैं। एक वैद्य रोगी मनुष्य की इन्द्रियों, नाड़ियों, रक्त और हृदय के स्पन्दन की परीक्षा करके इनके द्वारा रोगी का उपचार करता है।

इष्कृतिर्नाम वो मातायो यूयं स्थ निष्कृतीः।
सीराः पतत्रिणीः स्थन यदामयति निष्कृथ॥

(ऋग्वेद 10/97/9)

अर्थात् इन ओषधियों की माता पृथिवी 'इष्कृति' है। अतः ये 'निष्कृति' हैं। ये शरीर की नस-नाड़ियों में वेग से गति करती हैं और जो रोग शरीर को पीड़ित कर रहा हो, उसे बाहर निकाल देती हैं।

जो ओषधियां चन्द्रमा की चांदनी में बढ़ती हैं, वे विविध प्रकार की हैं, परन्तु उनमें जो हृदय रोग के लिए हैं, वे उत्तम हैं। वैद्य विविध दवाओं के मेल से रोगी की काया को ठीक करता है। वे दवाएं मिलन प्रक्रिया से नया रूप धारण करने के उपरान्त भी अपना-अपना प्रभाव बनाये रखती हैं। ये ओषधियां जड़ी-बूटियों के रूप में इस पृथिवी पर सर्वत्र फैली हुई हैं।

प्राचीनकाल में आर्य ऋषियों ने इन जड़ी-बूटियों की खोज की थी और विविध रोगों पर उनका प्रयोग करके 'आयुर्वेद' को जन्म दिया था। ये ओषधियां जड़ी-बूटियों को कूट-पीसकर व उनका रस निकालकर बनाई जाती थीं।

पशु-पालन, कृषि और शिल्प

'ऋग्वेद' में 'गौ' पालन, 'अश्व' पालन और 'शिल्प' आदि का भी महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। उस समय ऋषिगण केवल यज्ञ ही नहीं करते थे, कृषि, पशु-पालन, कुएं और सिंचाई के साधनों का भी वे प्रयोग करते थे।

निराहावान्कृणोतन सं वरत्रा दधातन।
सिञ्चमहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्॥

(ऋग्वेद 10/101/5)

अर्थात् गायों के पानी पीने के स्थानों को बनाओ। रस्सियों को परस्पर जोड़ो। हम जल से भरे हुए, अच्छी प्रकार से सींचने योग्य, कभी भी जिसका जल क्षीण न हो, ऐसे कूप से खेत की सिंचाई करें।

आर्य ऋषि मनुष्यों से कहते हैं कि अश्वों को चारा-पानी आदि देकर प्रसन्न करो। उत्तम और हितकारक खेतों को जोतो। सुखपूर्वक ले जाने वाले रथों को बनाओ। काष्ठ के जलपात्र से युक्त, कवच के समान जल-रक्षण-कोश वाले, पाषाणमय घेरे वाले और मनुष्यों के पानी पीने की व्यवस्था से युक्त कूप बनाकर सिंचाई का कार्य करो।

वे कहते हैं कि हे मनुष्यो! गोशाला बनाओ और वही आपके लिए दुग्धपान का स्थान हो। बहुत से बड़े और मोटे कवचों को सीकर बनाओ। लौहमयी और अनाक्रमणीय पुरी बनाओ। तुम्हारा यज्ञ का चमसपात्र (चमचा) कभी ढीला-ढाला न हो। वह सदा दृढ़ रहे, जिससे यज्ञ बराबर चलता रहे।

उपरोक्त विश्लेषण से पता चलता है कि वैदिक ऋषियों को पशु-पालन, कृषि, गृह-निर्माण, कुएं और सुरक्षित जलपात्र बनाने का शिल्प आता था। वे लौह धातु से भी परिचित हो चुके थे। काष्ठ-शिल्प का उन्हें पूरा ज्ञान था। सुरक्षित नगर अथवा गांव के महत्त्व को वे जानते थे।

यज्ञ का महत्त्व

वैदिक ऋषि यज्ञ के माध्यम से परमात्मा के प्रति पूर्ण समर्पण भाव को अभिव्यक्त करते हैं। वातावरण की शुद्धि पर उनका विशेष बल रहता है। उनकी दृष्टि समस्त प्राणियों के कल्याण की है। जिस प्रकार सूर्य सभी को समान रूप से अपनी आभा से आलोकित करता है, उसी प्रकार परमात्मा की प्रेरणा से समस्त वैदिक ऋषिगण समस्त प्राणियों के सुख की कामना करते हैं।

ऋग्वेद विश्व का ज्ञानकोश

ऋग्वेद में 'पुरुरवा-उर्वशी' की प्रेमकथा (10/95), 'यम-यमी संवाद

(10/10)' और 'सरमा-पाणी संवाद (10/130)' के आख्यान सूक्त भी मिलते हैं। ऋग्वेद में कहीं-कहीं पहेलियां भी दी गयी हैं, जो अत्यन्त प्रतीकात्मक भाषा में लिखी गयी हैं।

वास्तव में ऋग्वेद का कलेवर इतना विशाल है कि उसे थोड़े में समझना या समझाना अत्यन्त कठिन कार्य है। इसका एक-एक सूक्त जीवन और दर्शन का विशाल कोश है। इतना निश्चित है कि इन सूक्तों के द्वारा तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था, संस्कृति और धर्म को सहजता के साथ समझा जा सकता है। उस काल में व्यक्ति, परिवार, समाज, वैवाहिक सम्बन्ध, नियोग-चलन, जुआ, चोरी, राजदण्ड, प्रजा का व्यवहार, रोग, औषधि-ज्ञान, पशु-पालन, शिल्प, धर्म, सदाचार, पर्यावरण, प्रकृति का महत्त्व, विद्या और विद्वानों का महत्त्व, गुरु-शिष्य परम्परा, देव-दानव-युद्ध, इन्द्रिय-संयम, अग्नि, इन्द्र, सोभ आदि का वर्णन व्यापक रूप से हुआ है।

राजनीतिक दृष्टि से ऋग्वेद में विस्तृत जानकारी मिलती है। राजा का कर्म शत्रुओं को नष्ट करके प्रजा की रक्षा करना है। राजा का चुनाव उसकी योग्यता देखकर ही प्रजा द्वारा किया जाता था। उन्हें गृहपति, विश्वपति, जनपति और राजा कहा जाता था। श्रेष्ठ स्वराज्य की महिमा का अनेक स्थलों पर गुणगान ऋग्वेद में मिलता है। इन्द्र की शक्ति, आतंक अथवा लोगों को भयभीत करने के लिए नहीं है। उसकी शक्ति का प्रयोग विद्वानों, स्वजनों और राज्य की रक्षा करना होता है। वह प्रजापालक है।

ऋग्वेद मानव-जाति का प्राचीनतम धर्मग्रन्थ

हिन्दुओं के सभी धार्मिक कृत्यों को पूर्ण कराने के लिए ऋग्वेद में सैकड़ों मन्त्र हैं। ऋग्वेद को हिन्दुओं का सर्वाधिक प्राचीन धर्मग्रन्थ कहा जा सकता है, परन्तु अपनी विषय-वस्तु की सघनता और मानव-जीवन के कल्याण की भावना को अपने भीतर संजोये रखने के कारण, ऋग्वेद समस्त मानव-जाति का आदि ग्रन्थ है। जीवन के शाश्वत, अर्थात् सनातन मूल्यों की स्थापना तथा उनसे प्रेरित होकर उन्हें अपने जीवन का अंग बनाने की प्रेरणा ऋग्वेद के मन्त्रों से प्राप्त होती है। ऋग्वेद नास्तिकों का नहीं, आस्तिकों का ग्रन्थ है। मनुष्य के उत्कर्ष के लिए जिस धर्म की आवश्यकता है, वह ऋग्वेद में प्राप्त हो जाता है। यहां सहयोग पाने की नहीं, सहयोग देने की भावना के दर्शन होते हैं।

ऋग्वेद के धर्म से 'धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष' की प्राप्ति सम्भव है। इसमें मनुष्य के कल्याण, अभ्युदय, उन्नति और मुक्ति की भावना निहित है। इसमें धर्म, अर्थ और काम को धर्मानुकूल रखने की प्रवृत्ति देखी जा सकती है। यह धर्म त्याग-मूलक है। यहां अर्थाजन करना अथवा अपने स्वार्थ की पूर्ति करना ऋषियों का लक्ष्य नहीं है।

ऋग्वेद के मन्त्रों में प्राणी देवों की कृपा को पाना चाहता है। वह उनसे प्रार्थना करता है और उनसे कृपा की आकांक्षा करता है। ऋषिगण देवताओं के गुणों का उल्लेख करके, मनुष्य को देवताओं जैसे गुण अपनाने के लिए उपदेश देते हैं।

यज्ञ के माध्यम से देवकृपा पाने की आशा की जाती है। प्रकृति की रहस्यमयी शक्तियों में ही परमात्मा का अंश विद्यमान है। वह उसी शक्ति से तादात्म्य करना चाहता है। ऋग्वैदिक यज्ञधर्म में पुरोहितों और विद्वानों का विशिष्ट स्थान है। वह यजमान और देवों के बीच का सेतु है। यज्ञ में पुरोहित ही यजमान के कल्याण के लिए देवता को आहुति देता है और बदले में उसके लिए धन-धान्य और दीर्घायु की कामना करता है। यजमान पुरोहित की प्रत्येक सुख-सुविधा का ध्यान रखना अपना कर्तव्य समझता है।

ऋग्वैदिक धर्म में जीवन से पलायन करने के मन्त्र नहीं हैं। ऋग्वेद के मन्त्र लोगों में जीवन की आशा का संचार करने वाले हैं। यह धर्म पूरी तरह व्यावहारिक है। इस धर्म में सभी जड़-चेतन पदार्थों को देवतुल्य मानकर उनकी उपासना की गयी है। इस धर्म में प्राणिमात्र के प्रति मैत्रीभाव को स्थान दिया गया है। वैदिक ऋषि आयु, बल, बुद्धि सभी के लिए चाहते थे। इस धर्म में न द्वेष है, न पाप है, अपितु द्वेष से मुक्ति और पापों का त्याग प्रमुख है।

'ऋग्वेद' के प्रमुख देवता

'ऋग्वेद' की ऋचाओं में विभिन्न देवताओं की स्तुति की गयी है, परन्तु ये सभी देवगण एक ही ईश्वर के विभिन्न नाम हैं। वैदिक ऋषियों ने इन देवगणों को प्रकृति के मध्य से खोजा है। सृष्टि की विराट् चेतना के मध्य, जो अतीन्द्रिय अनुभव वैदिक ऋषियों को हुए, उन्हीं अनुभवों का परिणाम थे—ये देवता।

वैदिक साहित्य पर विचार करने वाले मनीषियों को यह बात विचित्र लग सकती है कि वैदिक संहिताओं में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में 'ईश्वर' शब्द रूढ़ि-रूप से परमेश्वर के अर्थ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।

इतना ही नहीं, धर्मसूत्रों, पाणिनि की 'अष्टाध्यायी,' 'व्याकरण महाभाष्य' और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' के विषय में भी यही बात कही जा सकती है।

वैदिक संहिताओं में दो-चार शब्द ही ऐसे मिलते हैं, जिनमें परमेश्वर के व्यापक स्वरूप को प्रकट किया गया है। वैदिक देवताओं में 'अग्नि,' 'इन्द्र,' 'वायु,' 'सविता,' 'विष्णु,' 'वरुण,' 'रुद्र' आदि नाम ईश्वर के परिप्रेक्ष्य में आये हैं।

वैदिक संहिताओं में परमेश्वर का वाचन मुख्य शब्द 'पुरुष' के रूप में मिलता है। 'भगवद्गीता' में इसे 'पुरुषोत्तम' कहा गया है। वेद की चारों संहिताओं

के लगभग 20 सूक्तों में 'पुरुष' शब्द का प्रयोग हुआ है। यजुर्वेदीय संहिता के 'पुरुष सूक्त' में परम पुरुष या विराट् पुरुष के अर्थ में इसका विशेष रूप से प्रयोग किया गया है। प्रसंगवश यहां उसका उल्लेख करना उचित है—

सहस्त्रशीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमि ॐ सर्वतः स्पृत्वाइत्यतिष्ठद्दशाङ्गलम्॥

(यजुर्वेद 31/1)

अर्थात् जिस पूर्ण परमात्मा में (पुरुष में) अनेकानेक शिर, आंखें और पैर हैं, वह महान् पुरुष ब्रह्माण्डरूपी भूमिका को सब ओर से व्याप्त करके उसके बाहर भी अवस्थित है।

कुछ विद्वानों का मानना है कि वेद में देवताओं की स्तुति न होकर ईश्वर की ही स्तुति है। भले ही वे उसे 'अग्नि,' 'इन्द्र' आदि नामों से पुकारते हों। उन सबके पीछे एक परमेश्वर की ही सत्ता विद्यमान है। मन्त्रों में जहां-जहां देवता का सम्बन्ध सृष्टि के साथ उद्धृत किया गया है, वहां यही समझना चाहिए कि परमार्थ में ईश्वर ही स्त्रष्टा है। देवगण उसी ईश्वर की शक्ति से सारे कार्य सम्पन्न करते हैं।

मन्त्र वाक्यों का समन्वय करने से यही सिद्ध होता है कि ईश्वर ही इस जगत् का स्त्रष्टा है तथा सम्पूर्ण शक्तियों का मूल उसी में विद्यमान है। केवल देवगण ही नहीं, सारा संसार ही ईश्वर का व्यापक स्वरूप है। वही पूरे ब्रह्माण्ड का नियन्ता है।

डा. वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'अग्नि' और 'सोम' को महत्त्वपूर्ण शक्तियों का दाता माना है। वैदिक ऋषि सर्वप्रथम 'अग्नि' की ही उपासना करते हैं। यज्ञ-कर्म में 'अग्नि' से ही उनका साक्षात्कार होता है। 'सोम' शरीर में शक्ति का संचार करता है। स्वस्थ शरीर सोमरस के पान द्वारा ही सम्भव है।

वैदिक देवताओं की सामान्य विशेषताएं

पाश्चात्य विद्वानों ने वैदिक देवताओं की कुछ सामान्य विशेषताओं और गुणों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि वैदिक देवता उन भौतिक पदार्थों के अधिक निकट हैं, जिनका वे प्रतिनिधित्व करते हैं। यह स्वरूप पूरी तरह प्राकृतिक है।

दूसरे, इन देवताओं का गुण उनकी परोपकारी वृत्तियों में निहित है। प्रायः सभी देवता जनकल्याण के लिए अपने प्रभामण्डल के साथ प्रकट होते हैं। ये सब देवता दिव्य शक्तियों से युक्त हैं।

तीसरे, वैदिक देवताओं का जन्म प्रकृति के मध्य से हुआ। प्रकृति के दिव्य पदार्थों ने वैदिक ऋषियों के मन में जिस जिज्ञासा-भाव को जन्म दिया, उसी ने अनेक देवताओं को जन्म दिया। ये देवता पुरुष-रूप में ही स्थापित किये गये थे।

इस प्रकार वैदिक देवताओं का चौथा स्वरूप उनका मानवोचित स्वरूप है। ये सब देवता मानव के साथ सहयोग करनें वाले हैं। केवल अपवादस्वरूप रुद्र देवता को संहारक माना गया है, किन्तु वेदों में इसका उल्लेख बहुत कम हुआ है।

वैदिक देवताओं का नैतिक आचरण अत्यन्त उदार है और उनकी कृपा से ही मनुष्य अपनी इच्छाओं की पूर्ति कर पाता है।

'इन्द्र' और 'अग्नि'

'इन्द्र' के विषय में वे कहते हैं कि वेदों में जो इन्द्र है, वही उपनिषदों में 'आत्मा' का रूप ले लेता है। इस इन्द्ररूपी वृषभ के पास मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार चार सींग हैं, ज्ञान, कर्म और उपासना तीन चरण हैं, त्रिपाद और एक पादरूपी अनन्त तथा सान्त दो सिर हैं और सप्त प्राण इसके सात हाथ हैं। सत्त्व, रज व तम इन तीन गुणों से यह इन्द्ररूपी वृषभ बंधा हुआ है। अपने निजी रूप में यह इन्द्र सहस्रशीर्ष और सहस्रपाद है, परन्तु मनुष्यरूप में आने पर यह विराट् विष्णु वामनरूप हो गया है। लेकिन इसके तीन चरण पृथ्वी, आकाश और पाताल तक को नाप लेते हैं। यह भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञाता है।

उनका कहना है कि आत्मदर्शन के बिना इन्द्र के ये तीनों पाश नहीं छूटते। वेद में इन्द्र की महिमा के स्वर सर्वोपरि हैं, अर्थात् इन्द्र सबसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ है। वह सर्वभूतमहेश्वर है, अर्थात् महादेव है। इन्द्र के प्रताप से सभी असुर कांपते हैं। सभी देवों में इन्द्र सर्वाधिक वीर्यवान् है। सभी देवता इन्द्र के ही रूप हैं। इन्द्र के कारण ही अन्य देवताओं की महिमा है। इन्द्र ही सारे देवताओं के ओज, बल, वीर्य, शक्ति और तेज में सर्वश्रेष्ठ है।

अग्नि, सूर्य, वायु व वरुण आदि अनेक देव एक ही शक्ति के रूप हैं। ब्रह्म की संज्ञा ही इन्द्र है। पिण्ड में वही इन्द्र 'आत्मा' है और ब्रह्माण्ड में परमात्मा है। ब्रह्माण्ड में जो सूर्य, चन्द्र आदि नक्षत्र और दिव्य शक्तियां विद्यमान हैं, उनकी ही प्रतिनिधि इस शरीर में इन्द्रियां हैं।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एक ही जीवन-प्रवाह है। जो हिरण्यगर्भ है, वही वैश्वानर परब्रह्म है। हम जो वाणी बोलते हैं, वह वाक् 'अग्नि' की ज्योति है। नासिका द्वारा प्राणवन्त होकर हम विराट् 'वायु' के साथ एकता स्थापित करते हैं। सूर्य के प्रकाश से वस्तुओं और पदार्थों को रूप प्राप्त होता है। उसी रूप को प्रकट करने वाली आंखें हैं। आकाश शब्द उत्पन्न करता है, जिसे हम कानों से सुनते हैं। बाह्य जल के कारण हमारे शरीर में वीर्य का बल है, जो जीवनी शक्ति का प्रतीक है। इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड में एकता है।

विराट् प्राण के साथ शरीर के प्राण की एकता है। एक-एक नक्षत्र की ज्योति

का प्रभाव शरीर में स्थित प्राण पर पड़ता है। दोनों में एक ही प्रकार की विद्युत् का प्रवाह होता है। इसी विद्युत् की वैदिक संज्ञा 'प्राण' कहलाती है। इस प्राण को ही 'देव' कहा गया है। मूल रूप में एक होते हुए भी इसके अनेक रूप हैं। उन देवताओं का ही वर्णन वैदिक सूक्तों में उपलब्ध होता है। वैदिक ऋषियों ने सभी देवों की एकता को भलीभांति जान लिया था—

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्नि माहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वान माहुः॥

(ऋग्वेद 1/164/46)

अर्थात् विप्र लोग एक ब्रह्म को ही अनेक नामों से पुकारते हैं। उसी को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गरुत्मा, सुपर्ण, यम, मातरिश्वा कहा गया है। व्यावहारिक अथवा सापेक्ष सत्ता में ये देव सविशेष कार्यों को करने वाले हैं। तटस्थ रूप से सभी के अपने-अपने धर्म हैं। जिस प्रकार एक ही सूर्य की अनेक रश्मियां हैं। उनका पारस्परिक भेद होते हुए भी नहीं है।

यही बात वैदिक ऋषियों ने प्रत्यक्ष की थी। 'अनेकता में एकता' की बात यहां प्रतिध्वनित होती है। इस प्रकार ऐसा कहा जा सकता है कि प्रत्येक पदार्थ या परमाणु विविध स्थिति में है। अनेकता में उसका सम्बन्ध सृष्टि से है, एकता में उसका सम्बन्ध उस परमतत्त्व की खोज से है। वैदिक ऋषि इन्हें 'त्रिपाद' और 'एकपाद' के नाम से पुकारते हैं। त्रिपाद सापेक्ष ब्रह्म हैं, जबकि एकपाद भूतभव्यभुवन है, जिसमें सभी लोक समाये हुए हैं।

इन्द्र की पाञ्चजन्य प्रजाएं इन्द्रियां हैं। आत्मा वह है, जिससे इन्द्रियां आकाश में स्थित हैं। आकाश महाप्राण का स्रोत है। उस महाप्राण से ये इन्द्रियां एक सूत्र में पिरोई हुई हैं। ऋग्वेद में कहा है—

यत्पाञ्चजन्यया विशा इन्द्रे घोषा ऊसृक्षत।
अस्तृणाद्बर्हणा विथो अर्यो मानस्य स क्षयः॥

(ऋग्वेद 8/63/7)

अर्थात् पाञ्चजन्या प्रजाओं ने एक साथ इन्द्र की स्तुति की। उस स्तुति से प्रेरित होकर इन्द्र ने शत्रुओं का वध कर दिया और वह सम्मान का पात्र बना। इस प्रकार एकमात्र आराध्य वही है और वही सारे विघ्नों का हर्ता है।

वस्तुतः इन्द्रिय-संयम से ही परमात्मा को प्राप्त किया जा सकता है। इन्द्र ही मरुत्वान, अर्थात् प्राणतत्त्व है। प्राणों से विरोध ही आसुरी प्रवृत्ति का परिचायक है। इन्द्र वैकुण्ठाधिपति है। जिस लोक में अनुभव कुण्ठित नहीं होता, वह इन्द्र का धाम है।

पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का कहना है कि वेद में सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पदार्थों की स्तुति है, परन्तु कुछ यूरोपीय और वर्तमान भारतीय विद्वानों का मत है कि वेद में ईश्वरोपासना नहीं है। इन विद्वानों का यह भी कहना है कि परमात्मा-विषयक कल्पना वैदिक संहिताओं में नहीं है।

प्राचीन भारतीय विद्वानों का कहना है कि वेदों में परब्रह्म तक की सभी विद्याओं के भण्डार निहित है। कठोपनिषद् में कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥ ओमित्येतत्।

(कठ. 1/2/15)

अर्थात् सम्पूर्ण वेद जिसका वर्णन करते हैं, सब तप जिसकी प्राप्ति के लिए किये जाते हैं और जिसके उद्देश्य से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, वह परमात्मा का स्थान ओंकार से बोधित होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्पूर्ण वेद-मन्त्रों में परमात्मा का ही वर्णन विद्यमान है।

'गीता' में भी यही कहा गया है—

"वेदैश्चसर्वैरहमेववेद्यो।"

(गीता 15/15)

अर्थात् सम्पूर्ण वेदों में मेरा (ईश्वर का)ही बोध होता है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि वेदों में ईश्वर-विषयक ज्ञान नहीं है, उनके लिए गीता और उपनिषदों की उपर्युक्त टिप्पणियां यथेष्ठ हैं। उपनिषद् बताते हैं कि वेद के सभी वचनों में एक ही अद्वितीय सत्त्व का वर्णन है।

आध्यात्मज्ञान का उपदेश देने वाले उपनिषद् वेद-मन्त्रों को ही प्रमाण मानकर ईश्वरीय सत्ता का निरूपण करते हैं। वेद-मन्त्रों में आत्मा, ब्रह्म अथवा ईश्वर का ज्ञान सर्वत्र बिखरा पड़ा है।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।

(ऋग्वेद 1/164/39)

अर्थात् जो उसको नहीं जानता, वह वेद-मन्त्र लेकर क्या करेगा? वेद-मन्त्र पढ़ने की सार्थकता तभी तक है, जब पढ़ने वाला वेदतत्त्व, अर्थात् परमपद का ज्ञान प्राप्त करे। बिना ज्ञान कें वेदों का अध्ययन व्यर्थ है। वेद-मन्त्रों की अन्तिम सिद्धि परमात्मपद के ज्ञान की है। जो लोग ऐसा कहते हैं कि वेदों में ईश्वर-विषयक ज्ञान नहीं है, उनके विचार सर्वथा अशुद्ध प्रतीत होते हैं।

एक ही मनुष्य के कितने ही रूप और नाम हो सकते हैं—जैसे पिता, पुत्र, भाई, पति, चाचा, मामा, भतीजा आदि और रमेश, महेश, नरेन्द्र, महेन्द्र आदि, परन्तु सबके मूल में मनुष्य है। इसी प्रकार अग्नि, इन्द्र, पूषा, वायु, वरुण आदि अनेक

नामों से सम्बोधित होने वाला एक ही ब्रह्म, आत्मा अथवा ईश्वर है। नाम अनेक

भले ही हों, परन्तु तत्त्व एक ही है। अग्नि आदि अनेक नामों से एक ही आत्मा का बोध होता है।

इस आधार पर 'इन्द्रिय' शब्द का मूल अर्थ 'इन्द्र' की शक्ति है, परन्तु वेद-मन्त्रों में 'इन्द्रिय' शब्द आंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि के लिए प्रयुक्त होता है। इन आंख, नाक, कान, हाथ, पैर आदि से शरीर के अन्दर प्रस्तुत 'इन्द्र की शक्ति' प्रकट होती है। इन्द्र है, तभी इन्द्र की शक्ति है। यह इन्द्र ही ब्रह्म का पर्यायवाची है। वेद-मन्त्रों में जहां इन्द्र का वर्णन है, वहां आत्मा, अर्थात् परमात्मा का ही वर्णन है।

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्षणीनामरान्न नेमिः परिता बभूव॥

(ऋग्वेद 1/32/15)

अर्थात् इन्द्र स्थावर जंगम-जगत् का राजा है। वही प्रभु शान्त और सींग वाले मारक पशुओं का भी स्वामी है। प्रभु के चारों ओर प्रवहमान यह विश्व है।

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन॥

(ऋग्वेद 10/48/5)

अर्थात् मैं इन्द्र हूं। मेरी पराजय नहीं होती। यह धन मेरे पास ही रहता है। मैं कभी नहीं मरता। मैं अजर हूं, अमर हूं। शरीर में रहने वाला जीवात्मा ही इन्द्र है।

वेद में अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि नाम इसलिए आये हैं कि आज जो जीवात्मा सांसारिक मोह-माया में बद्ध है, वही मुक्त होगा। जैसे यज्ञ की छोटी अग्नि ही परमात्मा की विशाल और अनन्त ज्योति का अंशमात्र है। आत्मा का योग एक दिन परमात्मा से होता है और नदी का जल सागर में समाहित हो जाता है। आज जो पुत्र हैं, कल पिता बन जाता है। ऐसे ही जो इन्द्र है, वह एक दिन महेन्द्र बन जाता है। प्रत्येक जीव विकास की प्रक्रिया के उपरान्त शिव बन जाता है। पुरुष, पुरुषोत्तम बन जाता है। इस प्रकार वेद-मन्त्रों में जैसा पुरुष का वर्णन है, वैसा ही पुरुषोत्तम का भी वर्णन है। यहां 'अग्निदेव' का वर्णन देखिये—

त्वं ह्यग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो अभवो दस्म होता।

(ऋग्वेद 6/1/1)

अर्थात् हे अग्ने! तू पहला मननकर्ता है और हे दर्शनीय अग्ने! तू बुद्धि का प्रदाता है।

यहां सायणाचार्य 'मनोता' शब्द का अर्थ '**मनःयत्र ऊतं सम्बद्धं भवति**' ऐसा करते हैं। जहां मन सम्बद्ध होता है, वह मनोता है। इन्द्रियां मन में और मन आत्मा के साथ सम्बद्ध होता है। यह बात प्रत्येक मनुष्य अपने अन्तःकरण में विचार करके जान सकता है। यहां बुद्धि का दाता आत्मा ही है।

देवों के तीन मनोता माने गये हैं। 'वाक् ' देवों का प्रथम मनोता हैं। इसमें

देवों का मन जुड़ा होता है। 'गौ' और 'अग्नि' दूसरे दो मनोता हैं। वाणी द्वारा

जीवात्मा का सम्बन्ध होता है।

अयं होता प्रथमः पश्यतेमामिदं ज्योतिरमृतं मर्त्येषु।
अयं यज्ञे ध्रुव अनिषत्तोऽमर्त्यस्तन्ता वर्धमानः॥

(ऋग्वेद 6/9/4)

अर्थात् पहला यज्ञकर्ता अग्नि, मरण धर्म वाले मनुष्य में अमर ज्योति-स्वरूप है। यह अमर होता हुआ भी शरीर के साथ बढ़ता है और इस जीवनरूपी यज्ञ में स्थिर है। मृत्यु को प्राप्त होने वाले शरीर में अमर आत्मा की ज्योति ही आत्माग्नि है। इस जीवनरूपी यज्ञ में यही अग्नि आत्मज्योतिस्वरूप प्रदीप्त है।

'अग्नि' शब्द से परमेश्वर का वर्णन इस मन्त्र से प्राप्त होता है—

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहेचारुदेवस्य नाम।
स नो मह्यादितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥

(ऋग्वेद 1/24/2)

अर्थात् हम अमर देवों में पहले अग्निदेव का सुन्दर नाम मन में लायें। वही हम सबको प्रकृति में बार-बार लाता है, जिससे हम अपने माता-पिता को बारम्बार देख सकते हैं।

यह अग्निदेव जीवात्मा को पुनर्ज़न्म का योग करता है। यह निस्सन्देह परमेश्वर है। वेद में प्रायः सभी देवताओं के लिए सभी नाम प्रयुक्त हुए हैं। अग्नि को इन्द्र कहा गया है और इन्द्र को अग्नि कहा गया है। इसी प्रकार अन्य देवताओं को भी नाम दिये गये हैं। शब्दों का जो अर्थ लौकिक संस्कृत में है, वह वेद-मन्त्रों में नहीं है।

एष ब्रह्मा एष इन्द्रः। —*(ऐतरेय उपनिषद् 5/3)*

स इन्द्रः सोऽग्नि सोऽक्षरः। —*(मृ. पू. 1/4)*

अर्थात् वही ब्रह्मा, इन्द्र, शिव, अग्नि, अक्षर और आत्मा है। ये सारे नाम एक ही ईश्वर के हैं।

वेद में अग्नि को इन्द्र और इन्द्र को अग्नि कहा गया है और उसके अनेक नाम भी बताये गये हैं—

त्वमग्न इन्द्रो वृषभः —*(ऋग्वेद 2/1/3)*

त्वं विष्णुः। —*(ऋग्वेद 2/1/3)*

त्वं ब्रह्मा। —*(ऋग्वेद 2/1/3)*

त्वमग्ने राजा वरुणो। —*(ऋग्वेग 2/1/4)*

त्वं मित्रः। —*(ऋग्वेद 2/1/4)*

त्वमर्यमा। —*(ऋग्वेद 2/1/4)*

त्वमंशः। —(*ऋग्वेद 2/1/4*)
त्वमग्ने त्वष्टा। —(*ऋग्वेद 2/1/5*)
त्वमग्ने रुद्रो असुरः। —(*ऋग्वेद 2/1/6*)
त्वं भगः। —(*ऋग्वेद 2/1/7*)

अर्थात् इन मन्त्रों में अग्नि के लिए इन्द्र, वृषभ, विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, त्वष्टा, रुद्र, असुर और भग आदि शब्द प्रयुक्त किये गये हैं। इससे सिद्ध होता है कि ऋग्वेद में एक ही वस्तु के अनेक नामों का उल्लेख हुआ है। 'अग्नि' का अर्थ केवल 'आग' ही नहीं है।

केवल अग्निसूक्त में ही नहीं, प्रायः सभी उन देवताओं के विषय में ऐसा ही वर्णन आता है। वेद का अग्नि इन्द्र है और इन्द्र ही अग्नि है। अतः दोनों की सत्ता एक ही है। इस प्रकार सभी वेद एक ही परमपद का वर्णन करते हैं।

यदि अग्नि और इन्द्र एक ही हैं, तो दोनों के वर्णन एक दूसरे के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं। 'इन्द्रसूक्त' में इन्द्र का वर्णन इस प्रकार किया गया है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रति चक्षणाय।
इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते॥

(*ऋग्वेद 6/47/18*)

अर्थात् इन्द्र प्रत्येक पदार्थ के रूप में एक रूप होकर रहा है। उसका यह रूप देखने योग्य है। यह इन्द्र अपनी दिव्य शक्तियों से अनेक रूप धारण करता है। भाव यही है कि परमेश्वर (इन्द्र) ही अपनी माया से अनेक रूप धारण करता है।

पाश्चात्य विद्वान एम. विल्सन ने कहा है—

'Indra is here identified with Parameswara, the supreme first cause, identical with creation.'

अर्थात् इन्द्र परमेश्वर के रूप में जाना जाता हैं, जो कि सर्वोच्च सत्ता का प्रथम कारण है और जो अपनी सृष्टि से पहचाना जाता है।

इस प्रकार वेद में अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं का वर्णन एक ही परमतत्त्व परमात्मा के विषय में किया गया है। अथर्ववेद में अध्यात्म विद्या के अनेक ऐसे सूक्त हैं, जिनमें परमात्मा के विषय में ही कहा गया है।

कभी-कभी प्रश्न उठता है कि परमात्मा क्या है? उसको जानने की आवश्यक्ता ही क्या है? यह नास्तिकवाद है। ईश्वरीय सत्ता में शंका करने जैसा है। जो व्यक्ति यह जानते हैं कि मनुष्य की शक्ति अत्यन्त अल्प है, उसका विकास विश्व की महान् शक्ति की कृपा से ही सम्भव है, वे ऐसी शंका नहीं करते।

मनुष्य के पास 'आंखें' हैं, परन्तु सूर्य की ज्योति मिलने से ही वे कार्य करती हैं। सूर्य के प्रकाश के बिना उनकी शक्ति क्षीण हो जाती है। उसके प्रकाश से ही

उसकी देखने की शक्ति का विकास सम्भव होता है। इसी भांति परमात्मा की शक्ति से ही मनुष्य अल्प जीवन जीने की शक्ति प्राप्त करता है।

इसी प्रकार हमारे पास 'कान' हैं। आकाश के साथ सम्बन्धित होने पर ही कान की श्रवण-शक्ति बढ़ती है। हमारे शरीर का द्रव्य भाग, अन्न और जल के संसर्ग से बढ़ता है। अन्न-जल न मिले, तो आदमी भूखा मर जाये।

मनुष्य के शरीर में प्राण हैं। ये प्राण, विश्वव्यापक महाप्राण वायु से सम्बन्धित हैं। यदि विश्वव्यापक महाप्राण वायु का सम्बन्ध शरीर स्थित प्राण से कट जाये, तो जीवन ही समाप्त हो जाये। इस प्रकार मनुष्य के शरीर में एक भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जिसका सम्बन्ध महातत्त्व से न जुड़ा हो। उसके बिना जीवन की कल्पना ही व्यर्थ है।

आर्यसमाज के प्रवर्तक वेदऋषि स्वामी दयानन्द सरस्वती अग्नि, इन्द्र, वायु, वरुण आदि को ईश्वर के विशेष गुण मानते हैं। उनकी दृष्टि में परमात्मा का प्रकाशमान गुण ही 'अग्नि' है।

योगिराज अरविन्द ने 'इन्द्र' को दिव्य मन के साथ जोड़ा है। अग्नि को वे मनुष्य की दृढ़ इच्छाशक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं। 'रुद्र' को वे ऐसी दिव्य शक्ति मानते हैं, जो मनुष्य की पापी वृत्तियों का विनाश कर उन्हें विकास के मार्ग पर ले जाती है।

प्राचीन भाष्यकार सायण वेद-मन्त्रों में देवताओं के स्थान पर प्राकृतिक शक्तियों की सत्ता को मानते हैं।

प्रारम्भ में ऋग्वेद में अनेक देवों की मान्यता प्राप्त होती थी, परन्तु बाद में एक ही देवता मानने की प्रवृत्ति बलवती होती गयी। वह 'पुरुष' रूप में हो या 'प्राजपति' के रूप में या फिर 'हिरण्यगर्भ' के रूप में। वह एक ही है। उसे 'वाक्' भी कहा गया।

सूर्य

'ऋग्वेद' के अन्य देवताओं में 'सूर्य' भौतिक सूर्य का द्योतक है। इसकी स्तुति ऋग्वेद में दस सूक्तों में की गयी है। सूर्य के अन्य पर्यायवाची नामों में 'सविता,' 'मित्र,' 'पूषन्,' 'विष्णु,' एवं 'आदित्य' आदि आते हैं, जिनका ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है।

सूर्य वह देवता है, जो अन्धकार को समाप्त कर प्रकाश देता है और प्रातः होते ही मनुष्य को कर्म की ओर प्रवृत्त करता है। आकाश में चमकने वाले ज्योतिपिण्ड को देखकर ऋषि-मुनियों ने इसकी ऊर्जा-शक्ति के गुणगान किये। इसे परमेश्वर का स्वरूप प्रदान किया। यह सभी रोगों को नष्ट करता है।

वरुण

'वरुण' देवता ऋग्वेद के श्रेष्ठ देवताओं में है। इसे जल का देवता माना गया है। समुद्र का देवता भी इसे ही कहते हैं। ऋग्वेद में वरुण देवता का बड़े ही उत्साह के साथ वर्णन किया गया है। वरुणदेव पर बारह सूक्त लिखे गये हैं। कहीं-कहीं इसे विश्व का राजा भी माना है। 'असुर' विशेषण से भी इसे पुकारा गया है, किन्तु ऋग्वेद में 'असुर' शब्द का अर्थ 'प्राणमयी शक्ति' के रूप में लिया जाता है। वह कोई राक्षस नहीं है।

ऋतुओं से वरुणदेव का सम्बन्ध विशेष रूप से माना गया है। 'ऋत' कहते हैं सनातन नियमों को। प्रकृति अपने सनातन नियमों के आधार पर ही परिवर्तन करती रहती है और नित नये परिवेश में हमारे सामने आती रहती है। वरुणदेव इन प्राकृतिक नियमों के रक्षक हैं। इन नियमों के कारण ही निरन्तर गतिशील भी रहते हैं। ये नियम सभी ऋतुओं को नियन्त्रित करते हैं। दिन, रात, माह, वर्ष, सर्दी, गरमी, बरसात आदि वरुणदेव द्वारा ही नियन्त्रित रहते हैं।

वरुणदेव प्राकृतिक नियमों को ही नहीं संभालते, वे मनुष्य के मन की नैतिक प्रवृत्तियों को भी सन्तुलित करते हैं।

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्मा३स्वा।
साम्राज्याय सुक्रतुः ॥

(ऋग्वेद 1/25/10)

अर्थात् जैसे परमेश्वर सब प्राणियों के उत्तम राजा हैं, वैसे ही सत्य नियमों को पालने तथा अच्छे-अच्छे कर्म और बुद्धियुक्त भावों को देने वाले वरुणदेव हैं। उनकी भांति हमें भी उत्तम राज्य करने के योग्य होना चाहिए।

सभी देवगण वरुणदेव के नियमों का पालन करते हैं। नियमों की रक्षा के लिए वरुणदेव सदैव सजग रहते हैं। नियमों का उल्लंघन वरुणदेव को कदापि स्वीकार नहीं है। वरुणदेव ऐसे नियम भंग करने वाले पापियों को दण्ड देते हैं। इसलिए वरुणदेव के दण्ड से मुक्ति पाने के लिए प्रार्थना की जाती है—

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि नाशं मध्यमं चृत।
अवाधमाति जीवसे॥

(ऋग्वेद 1/25/21)

अर्थात् अविद्या के अन्धकार से मुक्त करने वाले परमेश्वर! आप हम लोगों के दीर्घ जीवन के लिए हमारे श्रेष्ठ और मध्यम दुःखरूपी बन्धनों को अच्छी प्रकार से मुक्त कीजिये तथा जो दोषरूपी हमारे निकृष्ट बन्धन हैं, उनका भी विनाश कीजिये।

वरुणदेव से विद्या प्राप्त करने की भी प्रार्थना की जाती है—

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय।
त्वामवस्युराचके॥

(ऋग्वेद 1/25/19)

अर्थात् हे वरुण! आज अपनी रक्षा और बुद्धि को चाहता हुआ मैं आपकी भली प्रकार से प्रशंसा करता हूं। आप मेरी स्तुति को ग्रहण करके मुझे विद्यादान दीजिये।

वरुण के सूर्य-प्रकाश की भांति चमकीले परिधान का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है। सूर्य को वरुण का नेत्र माना गया है। वरुण का रथ भी सूर्य के रथ के समान द्युतिमान है। सूर्य और वरुण दोनों सौरमण्डल के देवता हैं। सूर्य उषाकाल का और वरुण रात्रिकाल का प्रतीक है। इसलिए पश्चिमी दिशा को 'वारुणी' कहकर पुकारा जाता है। वरुणदेव शुभ कर्मों का वरण करने वाला देवता है।

वरुण वर्षा के जल का स्रष्टा है। इसका स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। वरुण को परमात्मा, वायु, जल और चन्द्र का रूप भी माना गया है। वरुण का मूल भाव वरण करने से है। वह देव, जो वरण करने योग्य हो। यह विस्तार और अनन्तता तथा शुद्धता का देवता है। यह आकाश और समुद्र की विशालता को अपने भीतर समेटे हुए है।

मित्र

'मित्र' सूर्य को भी कहा गया है। ऋग्वेद में मित्र और वरुणदेव का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मित्र दया का प्रतीक है, उदार स्वभाव का स्वामी है। मित्र कर्म का देवता है। स्तुतिकर्ता पर कृपा करके उसे सुख देने वाला है। मित्र की विशेषता है कि वह रात-दिन कर्म करने वाले को अपने सहयोग और व्यवहार से सदैव उत्साहित करता रहता है—

मित्रो जनान्यातयति ब्रुवाणो मित्रो दाधार पृथिवीमुतद्याम्।
मित्रः कृष्टीरनिमिषाभिचष्टे मित्राय हव्यं घृतवज्जुहोत॥

(ऋग्वेद 3/59/1)

अर्थात् जो मित्र मनुष्यों को दिन और रात्रि में होने वाली क्रिया से पुरुषार्थ कराता है, जो मित्र सूर्य के समान परमात्मा के रूप में दिन-रात की समस्त क्रियाओं को धारण करने वाला है और पृथिवी को जोतने में (कृषि-कर्म में) सहायक है ऐसे मित्र को घी-सामग्री से आहुति दें।

जो व्यक्ति कर्म में विश्वास रखते हों और सत्याचरण से सब की रक्षा करने वाले हों, उन्हें न तो मारा जा सकता है और न ही उन्हें पराजित किया जा सकता है—

प्र स मित्र मर्त्तो अस्तु प्रयस्वान् यस्त आदित्य शिक्षति व्रतेन।
न हन्यते न जीयते त्वोतो नैनमं हो अश्नोत्यन्तितो न दूरात्॥

(ऋग्वेद 3/59/2)

अर्थात् हे यथार्थ को जानने वाले विद्वान् मित्र अथवा परमात्मा! जो मनुष्य कर्मशील हो, जो आपकी कृपा से लोगों को शिक्षित करता हो, वह आपके द्वारा रक्षित अन्य जन द्वारा न तो मारा जा सकता है और न उस पर विजय पाई जा सकती है। ऐसे मुनष्य को पाप और अहंकार दूर से भी प्राप्त नहीं होता। दुष्ट व्यक्ति ऐसे लोगों का कुछ भी अहित नहीं कर सकते।

ऐसे मित्रों का सदैव नमन करना चाहिए, जो सदैव दूसरों के कल्याण में लगे रहते हैं।

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥

(ऋग्वेद 3/59/4)

अर्थात् यह परमात्मा अथवा यथार्थ वक्ता मित्र (राजा) सभी को सुख देने वाला हो अथवा राजा के रूप में राज्य का भली प्रकार से पालन करने वाला हो। ऐसे परमात्मा, मित्र अथवा राजा को नमन करना चाहिए। जिसका राज्य सुखी होता है, उस सत्य व्यवहार करने वाले राजा की आज्ञा और व्यवहार में कल्याणकारी भावनाएं निहित होती हैं। हमें भी वैसा ही व्यवहार करना चाहिए।

ऋग्वेद का 'मित्र' शब्द लौकिक संस्कृत में भी प्रचलित है। हिन्दी भाषा में उसका अर्थ सखा या साथी के रूप में होता है। बारह आदित्यों में पहला स्थान मित्र का है। मित्र वही है, जो विपत्ति में सहायक हो। परमात्मा को भी विपत्ति में जीव का सहायक स्वीकार किया गया है। वही कर्म की प्रेरणा देने वाला है और मित्र होने के नाते अपने मित्र को सदैव गतिशील रखता है।

आधिभौतिक स्तर पर 'मित्र' को सूर्य माना गया है। वह विश्व का मित्र ही है, जो सभी को बिना किसी भेद-भाव के अपना प्रकाश देता है, जीवनी शक्ति प्रदान करता है, पदार्थों और वनस्पतियों की श्रीवृद्धि में सहयोग करता है।

आध्यात्मिक पक्ष में 'मित्र' परमात्मा के सख्य भाव का प्रतीक है। जीवात्मा, परमात्मा से प्रेरणा ग्रहण करके अपने मार्ग को प्रशस्त करता है। मित्र वही है, जो अपने विवेक से अपने मित्र की जीवनयात्रा में सहायक सिद्ध हो।

सविता

'सविता' को ऋग्वेद में स्वर्णिम आभा वाला देव स्वीकार किया गया है। गायत्री महामन्त्र में भी 'सविता' का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद में इस शब्द का प्रयोग

प्रचुरता के साथ हुआ है। इसे सूर्य का और परमात्मा का प्रतीक माना गया है। वेदों के बाद के साहित्य में सूर्य और सविता को एक ही देवता माना है, परन्तु वेदों में ऐसा नहीं है। यहां सूर्य और सविता दो अलग-अलग देवता हैं।

अबोध्यग्निर्ज्म उदेति सूर्यो व्युषाश्चन्द्रा मह्यावो अर्चिषा।
आयुक्षातामश्विना यातवे रथं प्रासावोद्देवः सविता जगत् पृथक्॥

(ऋग्वेद 1/157/1)

अर्थात् जैसे अग्नि को जाना जाता है, वैसे ही सूर्य पृथ्वी से अलग उदय होता है। प्रभातकाल में प्रकाश और ऐश्वर्य देने वाला सवितादेव, दिव्य गुणों से युक्त सूर्यमण्डल की किरणों से समस्त प्राणिजगत् को प्रकाशमान कर देता है।

भाव यही है कि जिस प्रकार अग्नि, विद्युत् व सूर्य अपने प्रकाश को प्रदान करते हैं, उसी प्रकार प्रभातवेला में सवितादेव अपने ऐश्वर्य की प्रभा से समस्त प्राणिजगत् को जाग्रत कर उत्साहित कर देता है। यहां सविता,सूर्य के प्रकाश में ही प्रातःकालीन सुषमा को अभिव्यक्त करने वाला देवता है।

प्रातःकालीन स्वर्णमयी बाल सूर्य की रक्तिम आभा ही सविता है, जो नव-स्फूर्ति का संचार करती है। इस प्रकार सूर्य के रूढ़ अर्थ और पदार्थ से सविता की आभा अलग है।

परन्तु गायत्री महामन्त्र में 'सविता' को परब्रह्म अथवा परमात्मा का रूप माना गया है। यहां इसे उत्पादक, प्रेरक, प्रकाश देने वाला स्वीकार किया गया है। इसे सम्पूर्ण संसार का जनक कहा गया है और सम्पूर्ण ऐश्वर्य का स्वामी माना है।

तत्सवितुर्वरेण्यं देवस्य धीमहि।
धियो यो नः प्रचोदयात्॥

(ऋग्वेद 3/62/10)

अर्थात् हम सब लोग, जो हम लोगों की बुद्धियों को उत्तम गुण, कर्म और स्वभाव से प्रेरित करे, उस (सवितुः) सम्पूर्ण संसार को उत्पन्न करने वाले और सम्पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त स्वामी और सम्पूर्ण ऐश्वर्य के दाता, सबको अपने प्रकाश से प्रकाशित करने वाले सर्वत्र व्यापक अन्तर्यामी के उस प्रभाव को ग्रहण करें, जिससे समस्त पापस्वरूप दुःखों का नाश होता है।

इस प्रकार ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्रों में 'सविता' का देव को प्रेरणा और ऐश्वर्य देने वाला देवता कहा गया है। सूर्य की प्रातःकालीन प्रभा से इसका गहरा सम्बन्ध है। यास्काचार्य ने 'सूर्योदय के समय के सूर्य को सविता' माना है। वस्तुतः प्रातःकाल वैदिक ऋषि जिस समय यज्ञ करने बैठते होंगे, उस समय वे उषाकाल के सूर्य की उपासना 'सविता' के रूप में ही करते होंगे।

सवितादेव सभी प्रकार की विपत्तियों, रोगों और दूषित वातावरण को दूर

करने वाला देवता है। वह मनुष्यों को दीर्घायु देता है। प्रातःकाल भोर के समय उठने से जीवन में नव-जीवन का संचार होता है और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी यह समय श्रेष्ठ माना गया है। स्वास्थ्य अच्छा है, तो दीर्घ जीवन स्वतः ही प्राप्त हो जाता है।

'पूषन्' और 'सूर्य' की भांति 'सविता' भी इस संसार का स्वामी है। यह पृथिवी पर प्राणिमात्र का रक्षक है। यह मोक्ष प्रदान करने वाला है। यह सूर्य से भिन्न अपेक्षाकृत अमूर्त देव है। सूर्य स्थूल देव है और 'सविता' प्रेरणा, प्रकाश और स्फूर्ति देने वला अमूर्त देव है। यह समस्त वातावरण में व्याप्त है। सूर्य संज्ञा है, तो 'सविता' विशेषण है। 'सविता' जीवन में आनन्द रस की अनुभूति कराता है। प्रेरणा देता है।

'सविता' मानव-जीवन में शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों के उद्बोधन की प्रेरणा देता है। तभी उससे सभी दुर्गुणों को दूर करने और कल्याणकारी गुणों को प्राप्त करने की प्रार्थना की जाती है—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद्भद्रं तन्न आसुव॥

(यजुर्वेद 30/3)

अर्थात् हे विश्व के देव परमात्मा (सविता)! हमारे दुर्गुणों को दूर कीजिये और जो कल्याणकारी है, उन्हें हमारे पास आने दीजिये।

यहां 'सविता' को समस्त गुणों, कर्मों और सुन्दर तथा पवित्र स्वभाव का देवता माना गया है। उसे दुष्ट आचरणों को दूर करने वाला देव स्वीकार किया गया है और उससे धर्मयुक्त आचरण तथा सुख की कामना की गयी है।

आदित्य

'आदित्य' को अदिति का पुत्र माना गया है। इसे भी सूर्य का ही पर्याय माना गया है। ऋग्वेद में स्वतन्त्र रूप से 'आदित्य' को समर्पित कोई सूक्त नहीं है। इसका विवेचन सामूहिक रूप से प्राप्त होता है। इस देवता में पापों से मुक्ति दिलाने के गुण विद्यमान हैं।

ऋग्वेद में सूर्य को अदिति का पुत्र कहा गया है। दिव्य प्रकाश देने वाले अन्य देवता मित्र, वरुण, अर्यमन् आदि हैं। उन्हीं के समान आदित्य भी है। आदित्य कोई अलग देवता नहीं है। इसे सूर्य का ही उपनाम अथवा उपाधि कहा जा सकता है। ऋग्वेद में आदित्यगण को समूह माना गया है। इन्हें सौरदेवता कहना अधिक समीचीन है।

आदित्यगण असत्य से घृणा करते हैं और पापी को दण्ड देते हैं। पापकर्म दूर करने के लिए उनसे प्रार्थना की जाती है—

अदिते मित्र वरुणोत मृळयद्वो वयं चकृमा कच्चिदागः।
उर्वश्यामभयं ज्येतिरन्द्रि मा नो दीर्घा अभि नशन्तमिस्त्रा॥

(ऋग्वेद 2/27/14)

अर्थात् हे अखण्डस्वरूप, विज्ञानस्वरूप, परम ऐश्वर्य से युक्त, सबके सखा और सब से उत्तम राजन्! आप हम सबको सुखी करो। हमसे जो अपराध हुआ है, उसे क्षमा करो,जिससे हम भयरहित होकर प्रकाश को प्राप्त कर सकें। हम रात्रि में भरपूर नींद लेकर सुख से व्यतीत करें।

यहां 'आदित्य' को अखण्डस्वरूप और विज्ञानस्वरूप माना गया है। वह न्याय करने वाला है और सुख देने वाला है। उनकी शरण में जाने वालों को दुःख, क्लेश आदि कभी प्राप्त नहीं होता—

न तं तिग्मं चन त्याजो न द्रासदभि तं गुरु।
यस्माउशमे सप्रथ आदित्यासो अराध्वमनेहसो
व ऊतयः सुऊतयो व ऊतयः॥

(ऋग्वेद 8/47/7)

अर्थात् जो लोग आदित्यों की शरण में आ जाते हैं, उन पर न तो कभी क्रोध गिरता है और न उनके निकट कभी क्लेश ही आता है।

आदित्यगण को बुद्धिपुत्र आचार्यों के रूप में भी मान्यता प्राप्त है। ये गण रोग को दूर करने वाले हैं और समस्त आपत्तियों से बचाने वाले हैं। वास्तव में सूर्य-रश्मियां ही आदित्यगण हैं—

अपामीवामप स्त्रिधमप सेधत दुर्मतिम्।
आदित्यासो युयोतना नो अंहसः॥

(ऋग्वेद 2/18/10)

अर्थात् हे बुद्धिपुत्र आचार्यो! हे विद्वानो! आप रोगों को मनुष्य समाज से दूर कीजिये। विघ्न-बाधाओं और शत्रुओं को दूर कीजिये। मूर्ख और दुष्ट बुद्धिधारकों को हमसे दूर कीजिये तथा हम साधारणजन को पापकर्म, दुःख-क्लेश और दुर्व्यसनों से अलग कीजिये। सूर्य-रश्मियों का यही कार्य है। प्रकाश की किरणों से दुर्व्यसनों का अन्धकार दूर हो जाता है।

'द रिलीजन ऑफ़ द ऋग्वेद' पुस्तक में ग्रिसवोल्ड ने आदित्यों के विषय में कहा है कि आदित्यगण वैदिक देवताओं में सबसे अधिक आदरणीय देवता हैं। इन्हें वरुणदेव के विशेषण मात्र के रूप में माना गया है।

वरुण की भांति आदित्यगण पवित्र और नैतिक गुणों से युक्त हैं। वे क्लेशों को दूर करने वाले, पापों का शमन करने वाले और सहयोगी प्रवृत्ति के देवता हैं।

रुद्र

'रुद्रदेव' के विषय में ऋग्वेद में अधिक चर्चा प्राप्त नहीं होती। केवल तीन सूक्तों में रुद्रदेव का उल्लेख है। अर्वाचीन मनीषियों ने रुद्र का सम्बन्ध 'शिव' से जोड़ा है। इस रूप में एक ओर रुद्र कल्याणकारी देवता हैं, तो दूसरी ओर वे संहार के देवता हैं।

ऋग्वेद में 'रुद्र' को मानवीय रूप में चित्रित किया गया है। जटाजूटधारी, शरीर पर भस्म लगाये, गले में सांपों और रुद्राक्ष की मालाएं डाले रुद्रदेव शरीर से अत्यन्त बलिष्ठ हैं। वे वृषभ के समान श्रेष्ठ युवा और शूरवीर हैं। ऋग्वेद में रुद्र को मरुतों का पिता कहा गया है।

मृळा नो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेमते।
यच्छं च योश्च मनुरायेजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतिषु॥

(ऋग्वेद 1/114/2)

अर्थात् हे रुद्र! दुष्ट शत्रुओं को रुलाने वाले, उनका विनाश करने वाले, आपके लिए हम अन्न से आपका सत्कार करते हैं। आप हमें सुखी करें। न्यायाधीश पिता के समान आप हमारे रोगों और क्लेशों को दूर करें। आप हमें सभी प्रकार के ज्ञान की संगति करायें, ताकि हम आपकी उत्तम नीतियों का पालन करते हुए सुखी रहें।

रुद्रदेव दुष्टों का दलन करने वाले हैं और विद्वानों की रक्षा करने वाले हैं। रुद्र शुभ-अशुभ, शिव-अशिव और सुन्दर-असुन्दर के प्रतिमान हैं। संसार का पालन करने में और पीड़ित व्यक्ति के प्रति जहां वे दयावान् हैं, वहां दुष्टों का संहार करने में शक्तिशाली भी हैं—

मा नो वधी रुद्र मा परा दा मा ते भूम प्रसितौ हीळीतस्य।
आ नो भज बर्हिषि जीवशंसे यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः॥

(ऋग्वेद 7/46/4)

अर्थात् हे रुद्र! दुष्टों का वध करने वाले, आप हमारा वध मत करो। आपके द्वारा अपमानित किये गये बन्धनों में हमें मत बांधो। आप जीवमात्र की प्रशंसा करने के योग्य हैं। इस सम्पूर्ण अन्तरिक्ष में, ब्रह्माण्ड में आप हमारी रक्षा करो। आप प्रसन्न होकर हम सभी की सदा रक्षा करो।

जीव, रुद्र का क्रोध मोल लेना नहीं चाहता। वह उनके अनादर का भी पात्र बनना नहीं चाहता। वह उन्हें प्रसन्न करके अपनी रक्षा को सुरक्षित कर लेना चाहता है।

'ऋग्वेद' का 'महामृत्युञ्जय मन्त्र' रुद्र अथवा शिव की स्तुति के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध मन्त्र है—

त्र्यंबकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकामिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतात्॥

(ऋग्वेद 7/59/14)

अर्थात् हे मनुष्यो! जिस पुण्यरूप, यशयुक्त, पुष्टिवर्धक और तीनों कालों में रक्षा करने वाले तथा 'जीव,' 'कार्य,' तथा 'कारण' के परमतत्त्व रुद्र अथवा परमात्मा को हम प्राप्त हां और उनकी उपासना करें। हम ककड़ी के फल के सदृश बन्धन से अलग हों, अर्थात् जीवन-मरण के चक्र से हम छूट जायें। हमें मुक्ति देने से आप पीछे न हटें।

भाव यही है कि परमतत्त्व का स्वामी 'शिव' है। उसकी उपासना से सारे बन्धन छूट जाते हैं और हमें बल, शक्ति, यश तथा मोक्ष प्राप्त होता है। जैसे ककड़ी बेल के बन्धन से अलग हो जाती है, उसी प्रकार संसार के भव-बन्धनों से जीवात्मा छूट जाती है, परन्तु यह तभी सम्भव है, जब आशुतोष शिव की कृपा हो।

सोम

ऋग्वेद का नवम मण्डल पूर्णरूप से सोम को समर्पित है। इससे सिद्ध होता है कि सोम का ऋग्वेद के देवताओं में कितना अधिक महत्त्व है।

'सोम' के दो अर्थ ऋग्वेद में प्राप्त होते हैं। एक अर्थ में तो 'सोम' पार्थिव पौधे या लता से सम्बन्धित है और दूसरे अर्थ में इसे पृथिवी का देवता माना जाता है। इसे 'द्यौ,' अर्थात् आकाश से भी जोड़ा जाता है।

वैदिककाल में मिलने वाले किसी पौधे को कूट-पीसकर उसका रस निकाला जाता था। यह रस शारीरिक पौष्टिकता के लिए अति उत्तम माना जाता था। अनेक स्थलों पर इसे औषधि-रस भी कहा गया है। किसी-किसी ने 'सोमरस' को मदिरा का पर्याय भी माना है, किन्तु यह विचार बाद का है। वैदिककाल में 'सोम-रस' को 'अमृत' की भांति माना जाता था। इसके पान से अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती थी।

इन्द्राय सोम पातवे मदाय परिषिच्यसे।
मनश्चिन्मनसस्पतिः।

(ऋग्वेद 9/11/8)

अर्थात् हे सोम! (परमात्मा) आप ज्ञानस्वरूप हैं। सभी मनों के प्रेरक हैं। जीवात्मा की तृप्ति और आनन्द के लिए हम आपकी उपासना करते हैं।

भाव यही है कि वैदिककाल में ऋषियों ने सोमपान करने के उपरान्त उसे इतना अधिक पौष्टिक और आनन्द देने वाला पाया कि उन्होंने उसकी भगवत्-स्वरूप प्रार्थना ही प्रारम्भ कर दी।

सोमा असृग्रमिन्दवः सुता ऋतस्य सादने।

इन्द्राय मधुमत्तमाः ॥

(ऋग्वेद 9/12/1)

अर्थात् जीवात्मा के लिए जो अत्यन्त आनन्द देने वाला देवता है, यज्ञ में जिसे उपास्य माना गया है, वह प्रकाशस्वरूप 'सोम' अत्यन्त सौम्य स्वभाव वाला है। उसी के द्वारा यह संसार रचा गया है।

यह बात निश्चित है कि 'सोमरस' अत्यधिक आनन्द देने वाला पेय था, जिसे ऋषियों ने परमात्मा तक का पद दे डाला था; क्योंकि आध्यात्मिक रूप में परमानन्द की अनुभूति कराने वाला परमात्मा ही है। इसलिए यदि 'सोम' को भी वैदिक ऋषियों ने परमात्मा का पर्याय मान लिया, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति की बात नहीं है।

'सोमरस' बनाने की प्रक्रिया में इस सोम के पौधे के तने को पत्थर से कुचलकर इसका रस निकाला जाता था। फिर उसे छानकर द्रोण नामक पात्र में भरा जाता था। इस रस में दूध-दही या जल मिलाकर इसका सेवन किया जाता था। सोमयज्ञ में देवताओं को सोमरस पान कराया जाता था। यज्ञ के उपरान्त यजमानों को भी सोमपान कराया जाता था। सोम इन्द्र का सर्वाधिक प्रिय पेय था। यदि इन्द्र से इन्द्रियों का अर्थ ग्रहण किया जाये, तो इस सम्भावना को अधिक बल मिलता है कि सोमपान से मनुष्य की इन्द्रियों को निश्चित रूप से वह आनन्द प्राप्त होता होगा, जो प्रायः आजकल मदिरापान करने वालों को होता है। यदि मदिरा का सेवन भी स्वास्थ्य की दृष्टि से किया जाये, तो चिकित्सा-सिद्धान्त के आधार पर मदिरा एक निश्चित माप में स्वास्थ्यवर्द्धक होती है।

'सोम' इन्द्रियों को अपने भीतर धारण करता है। वह उन्हें गति देता है—

सोमो अर्षति धर्णसिर्दधान इन्द्रियं रसम्।
सुवीरो अमिशस्तिपाः ॥

(ऋग्वेद 9/23/5)

अर्थात् सोम सारे पदार्थों का उत्पत्ति स्थान है। यह सारा ब्रह्माण्ड सोम के द्वारा ही गतिशील है। यह इन्द्रियों के शब्द और स्पर्श को धारण करने वाला है। भाव यही है कि इसके पान करने से सारे ब्रह्माण्ड में गतिशीलता आ जाती है, वाणी मुखर हो जाती है, शरीर हलका हो जाता है। सर्वशक्तिमान् परमात्मा सोमपान करने वाले प्राणी का सब ओर से रक्षक है। वह उसे आनन्द देता है और उसकी बुद्धि को उत्तम लक्ष्य की ओर प्रेरित करता है।

सोमरूपी परमात्मा सभी का कल्याण करने वाला है और उसे सभी प्रकार के ऐश्वर्यों को देने वाला है—

इन्द्राय सोम पवसे देवेभ्यः सधमाद्यः।

इन्दो वाजं सिषाससि॥

(ऋग्वेद 9/23/6)

अर्थात् हे सोमरूपी परमात्मा! कर्मयोगी व्यक्ति को तुम पवित्रता देते हो और देवता लोगों (विद्वानों) के लिए तुम यज्ञ में सेवनीय हो। परम ऐश्वर्य से युक्त हे परमात्मा! तुम सबको अन्नदान देकर सुख पहुंचाते हो।

परमात्मा उपदेश देता है कि सब आनन्दों में सबसे बढ़कर ऊंचा आनन्द 'ब्रह्मानन्द' का है। इस आनन्द के सामने सारे मादक द्रव्य निरानन्द प्रतीत होने लगते हैं। मद से बुद्धि का विनाश होता है, जबकि ब्रह्मानन्द से मद का विनाश होता है और सच्चिदानन्दस्वरूप भगवान् से साक्षात्कार होता है। परमात्मा ही आनन्दस्वरूप है। उस आनन्द के सामने सारे आनन्द फीके पड़ जाते हैं।

इस प्रकार ऋग्वेद का समस्त नवम् मण्डल 'सोम' देवता के गुणगान से भरा पड़ा है। यह सोमदेवता सभी पापों को दूर करने वाला है। इसलिए सोम की स्तुति की जाती है—

त्वं सोम पवमानो विश्वानि दुरिता तर।
कविः सीद नि बर्हिषि॥

(ऋग्वेद 9/60/6)

अर्थात् हे सोम भगवान! आप सम्पूर्ण पापों को दूर कीजिये। सभी कर्मों को जानने वाले आप यज्ञस्थल पर विराजमान रहिये।

यह 'सोम' कोई साधारण सोम नहीं है। यह दिव्य गुणों से युक्त है—

प्र सोम मधुमत्तमो राये अर्ष पवित्र आ।
मदो यो देववीतमः॥

(ऋग्वेद 9/63/16)

अर्थात् हे परमेश्वररूपी सोम! आपका जो यह रस है, अति स्वादिष्ट है और दिव्यस्वरूप है। उसे हमारे हृदय में ऐश्वर्य के लिए प्राप्त कराइये।

भाव यही है कि ऋग्वेद में जिस 'सोम' का वर्णन हुआ है, वह आनन्द का देने वाला है। वह दिव्यस्वरूप है और मनुष्य को कर्मयोगी बनाता है। कर्मयोगी बनकर ही वह आनन्द और ऐश्वर्य का उपभोग करता है। यह सोम मनुष्य की प्राण-शक्ति है। मनुष्य के प्रत्येक अंग पर इसका अधिकार है। यह अपंग लोगों में भी जीवन का संचार कर देता है और उन्हें गति प्रदान करता है तथा वाणी को मुखर कर देता है।

उस काल में सोम किस पौधे से बनाया जाता था, इसकी पहचान आज तक नहीं हो सकी है। वनस्पतिशास्त्री भी इसकी पहचान करने में असफल रहे हैं। यह

भी सम्भव हो सकता है कि ऐसा कोई पौधा हो ही नहीं। ऋषि-मुनियों ने निरन्तर

तपस्या करके जिस ब्रह्मानन्द की प्राप्ति की थी, उसे ही सोम के नाम से पुकारा हो। हठयोग में साधक अपनी समस्त अन्तश्चेतना का मन्थन करता है और तब जाकर परमानन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। यही आनन्दानुभूति अमृत है, 'सोम' है।

अश्विनौ

ऋग्वेद में इन्द्र, अग्नि और सोम के पश्चात् 'अश्विनौ' का सबसे अधिक बार प्रयोग हुआ है। पचास से भी अधिक सूक्तों में इसकी स्तुति की गयी है, किन्तु 'अश्विनौ' किस देवता को माना गया है, इस पर विद्वानों का मतभेद है। हां, इतना सभी भाष्यकार मानते हैं कि ये दो, अर्थात् युगल देवता हैं।

पौराणिक भाष्यकारों ने इन्हें अश्विनीकुमारों के नाम से पुकार कर इनका मानवीकरण कर दिया है और इन्हें ओषधियों के देवता माना जाता है। उनका कहना है कि सूर्य की पत्नी प्रभा ने घोड़ी का रूप ग्रहण कर लिया। तब उससे उत्पन्न दो पुत्र देवताओं के वैद्य तथा आयुर्वेद के जनक कहलाये। इनका धड़ और चेहरा मनुष्यों जैसा था और शेष सारा शरीर घोड़ों जैसा था।

परन्तु वैदिक ऋषियों ने अश्विनौ के लिए ऐसी कल्पना नहीं की थी। ऋग्वेद के एक पूरे सूक्त (2/39) में विभिन्न युगल वस्तुओं से इनकी तुलना की गयी है। जैसे—नेत्र, हाथ, पैर, हंसों का जोड़ा तथा अन्य वे पशु-पक्षी, जो साथ-साथ रहते हैं। कुछ विद्वानों ने पृथ्वी-आकाश, दिन-रात, सूर्य-चन्द्र आदि से अश्विनौ की एकरूपता सिद्ध करने का प्रयास किया है। कुछ लोग पवित्र कृत्य करने वाले दो राजाओं का उल्लेख करते हैं, किन्तु वे राजा कौन थे, उनका नामोल्लेख कहीं नहीं करते।

यास्काचार्य 'अश्विन्' का अर्थ उषा-पूर्व और उषा के पश्चात् के समय, अर्थात् आधा अन्धकार, आधा उजाला के सन्धिकाल से करते हैं। एक विशेष तथ्य यह है कि जड़ी-बूटियों की खोज प्रायः सूर्योदय और सूर्यास्त के समय ही की जाती है।

उषा और सूर्य की भांति 'अश्विन्देव' को भी सर्वव्यापी माना गया है। वे आकाश के पुत्र हैं और समुद्र उनकी माता है। उनका रथ स्वर्णिम है। यह रथ तीन पहियों और तीन नेमियों तथा तीन खण्डों वाला है। ऐसा कौन सा सुख है, जो ये देवता नहीं दे सकते—

आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृळीकः स्ववां यात्वर्वाङ्।
यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान् त्रिबन्धुरो वृषण वातरंहा॥

(ऋग्वेद 1/118/1)

अर्थात् हे बलस्वरूप अश्विनौदेव! अत्यन्त सुन्दर शिल्प से निर्मित, तीन

खण्ड वाला और बाज पक्षी के समान तीव्र गति से जाने वाला आपका यह रथ, मन को अत्यन्त सुख देने वाला है। इसमें अनेकानेक बहुमूल्य और उपयोगी ओषधियां विद्यमान हैं। आप वायुमार्ग से जाने वाले इस रथ को नीचे लायें और हमें नीरोग करके आनन्दित करें।

तीन खण्डों वाले रथ का तात्पर्य—आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दु:खों से हो सकता है। इनका निराकरण करने के लिए अश्विनीकुमारों का जन्म हुआ है।

मधु और सोमरस इनके प्रिय पेय हैं। ओषधशास्त्र में मधु और सोम दोनों का ही विशेष महत्त्व है। यहां सोम उन आसवों को कहते हैं, जिनसे शारीरिक व्याधियां दूर की जाती हैं तथा शहद के साथ अधिकांश आयुर्वेदिक औषधियां सेवन करायी जाती हैं।

अश्विनीकुमार देवताओं के वैद्य हैं। रोगियों को ओषधिपान कराके स्वस्थ करना इनका कार्य है। स्वस्थ और दीर्घ जीवन प्रदान करना परम धर्म है। कष्टों के निवारण के लिए इनसे प्रार्थना की जाती है।

मरुत

मरुत देवता वायु का प्रतिनिधित्व करता है, परन्तु ऋग्वेद में मरुत को देवों का एक महत्त्वपूर्ण गण माना गया है। मरुत की स्तुति के 33 सूक्त हैं। मरुत को 'झंझावात का देवता' भी माना जाता है। 'वायु' और 'झंझावात' प्राकृतिक गुण हैं, जो शाश्वत हैं। निस्सन्देह वैदिक ऋषियों का सम्पर्क वायु की जीवनी शक्ति से तो प्रत्येक पल रहता ही था, 'झंझावात' से भी प्राय: उनका सम्पर्क पड़ता रहता होगा। तेज़ तूफ़ानों का प्रभाव उनके आश्रमों और यज्ञों पर अवश्य पड़ता होगा। उन तूफ़ानों के मध्य से ही 'मरुत' देवता का जन्म अथवा कल्पना का प्रादुर्भाव सम्भव हो सका होगा।

'मरुत' शब्द 'मर' धातु से निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—प्रकाशित होना या कुचलना। इस प्रकार मरुत का सम्बन्ध वायु से नहीं हो सकता। इसका सम्बन्ध 'झंझावात' से अधिक मेल खाता है, जिसका गुण है नष्ट-भ्रष्ट करना। तेज़ हवाएं वनों को कुचलकर, आश्रमों को उजाड़कर चली जाती होंगी। अत: 'मरुत' को 'झंझावात' के अधिक निकट रखा जा सकता है। यद्यपि वायु के बिना झंझावात की कल्पना करना व्यर्थ है।

योगी अरविन्द ने 'मरुत' को 'जीवन शक्तियां' तथा 'प्रज्ञा शक्तियां' माना है। मरुतों की माता 'गौ' (पृथिवी) कही गयी है और रुद्र को ऋग्वेद में मरुतों का पिता माना है।

ऋग्वेद में मरुतों की तीव्र गतिशीलता का उल्लेख प्रचुरता के साथ हुआ है।

इनकी तीव्र गति भी इन्हें 'झंझावातों का देवता' सिद्ध करती है। जब मरुतगण वायु के साथ तीव्र वेग से चलते हैं, तब ये पर्वतों तक को हिला देते हैं। ये मरुतगण पृथिवी पर ही जन्म लेते हैं। इसलिए पृथिवी को इनको माता कहा गया है—

वातासो न ये धनुयो जिगत्नवोऽग्नीनां न जिह्वा विरोकिण।
वर्मरावन्तो न योधाः शिमीवन्तः पितृणां न शंसा सुरातयः॥

(ऋग्वेद 10/78/3)

अर्थात् ये जो मरुद्गण हैं, ये वायु के समान हिलने वाले, गतिशील और अग्नियों की ज्वाला के समान कवचधारक योद्धाओं की भांति माता-पिता की वाणी पर शौर्यकर्म करके दान देने वाले हैं।

भाव यही है कि ये मरुद्गण वायु के तेज़ झोंकों की भांति सभी को झकझोरने वाले हैं। इनकी गति अति तीव्र है। अग्निज़्वाला की भांति ये सर्वत्र नष्ट-भ्रष्ट करने वाले हैं। ये कवचधारी योद्धाओं की भांति प्रकृति को झकझोर डालते हैं अथवा प्राकृतिक सम्पदा से संघर्ष करते हैं और माता-पिता की उत्तम वाणी की भांति उत्तम अन्न के दाता हैं। इसका मूल अर्थ यही है कि तेज़ हवाओं के चलने से खलिहानों में रखे अनाज के बालों में से अन्न के दाने अलग हो जाते हैं। ऐसा आज भी देखा जाता है।

इन मन्त्रों में इनका वर्णन योद्धाओं के समान हुआ है, जो अपने रथों में घनघोर गर्जन करते हुए तीव्रगति से चलते हैं। अश्वों पर सवार शीघ्रगामी हैं। मेघों के समान जलप्रवाहों में तेज़ शक्ति का संचार करने वाले हैं। विद्युत् के समान तीव्र गति में उच्चस्वरों का उद्घोष करते हैं।

इन वर्णनों से मरुद्गणों का सम्बन्ध झंझावातों से अधिक सटीक बैठता है। तूफ़ान के उपरान्त तेज़ वर्षा का आना स्वाभाविक है। वायुवेग से वृक्षों का झूमना, पत्तों का खड़खड़ाना, सांय-सांय करती हवा का आवाज़ करना मरुतों की विशेषता है।

मरुद्गण इन्द्र के साथी हैं। इन्द्रियों का आवेग जगप्रसिद्ध है। वह किसी तूफ़ान से कम नहीं होता। इस प्रकार मरुद्गणों के माध्यम से ऋषिगण एक ओर तो प्रकृति के मध्य होने वाले झंझावात का चित्र खींचते हैं, तो दूसरी ओर मनुष्य के भीतर चलने वाले इन्द्रिय-लोलुपता के आवेग को भी प्रकट करते हैं। मरुद्गणों की स्तुति में इसी आवेग अथवा झंझावात को रोकने के लिए प्रार्थना की जाती है।

इन्द्र से रहित वायु जब तीव्र गति से रेगिस्तान अथवा मरुस्थल में चलती है, तब वह रुद्र के समान भयानक रूप धारण कर लेती है। इसलिए उसे 'मरुस्थल' कहा जाता है। ऋग्वेद में मरुद्गणों को युद्ध का देवता माना गया है। वह जहां विनाश करता है, वहां मंगलकारी भी है। वर्षा होने से प्रकृति हरी-भरी हो जाती है।

ऋग्वेद में विष्णु की स्तुति बहुत अधिक सूक्तों में नहीं हुई है। केवल पांच सूक्त ही विष्णु की स्तुति के प्राप्त होते हैं। वैसे विष्णु के नाम का उल्लेख बार-बार हुआ है।

ऋग्वेद में विष्णु कोई अवतार नहीं है। वह एक मनुष्य है। उसकी महत्ता इसी बात में है कि वह 'कर्म' का प्रतीक है। वह वीर है और धरती पर विजय प्राप्त करने में इन्द्र की सहायता करता है। अपनी गतिशीलता से वह सर्वव्यापक प्रतीत होता है—

प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा॥

(ऋग्वेद 1/154/2)

अर्थात् जो अपने जन्म, नाम और स्थान, इन तीन प्रकार से सृष्टि के समस्त क्रमों में आधारस्वरूप निवास करता है, वह विष्णु सर्वव्यापी परमात्मा है। वह अपने पराक्रम से कुटिलगामी, अर्थात् सभी तरह के ऊबड़-खाबड़ स्थानों को, कन्दराओं में रहने वाले हरिण के समान, पद्दलित करके प्रशंसा प्राप्त करता है।

यहां यही भाव स्पष्ट होता है कि विष्णु वह व्यक्ति है, जो सभी तरह के ऊंचे-नीचे स्थलों को अपने क़दमों से नाप सकता है और उन्हें हमवार करके कृषियोग्य बनाता है। ऐसा व्यक्ति सभी का पालनहार कहलाता है; क्योंकि वह अन्न उत्पन्न करने में प्रजा का सहायक है। वह सिंचाई के लिए कुएं भी खुदवाता है, मीठे जल से प्यास बुझाता है और भाई के सदृश दुःखों का विनाश करने वाला है—

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो पत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः॥

(ऋग्वेद 1/154/5)

अर्थात् जिसमें दिव्यजन की कामना करके विद्वान् लोग आनन्दित होते हैं, उस अनन्त पराक्रमी विष्णु—जो व्यापक परमात्मा के अति उत्तम गुणों से युक्त है और जो मोक्षपद प्राप्त किये हुए है, जो मधुर जल से हमारी प्यास बुझाता है, जो कृषि और मीठे जल के लिए कुएं खुदवाता है तथा जो भाई के समान हमारे दुःखों का विनाश करने वाला है—की हम स्तुति करते हैं।

विष्णु के तीन पदों के बारे में ऋग्वेद में उल्लेख मिलता है। इसे स्थूल रूप में नहीं समझना चाहिए। विष्णु अपने तीन पदों से तीनों लोकों को नाप लेता है। इससे आशय यही है कि ईश्वर ने पृथ्वी, आकाश और पाताल, इन तीन प्रकार से जगत् का निर्माण किया है। विष्णु में वह शक्ति विद्यमान है कि वह तीनों लोकों को

धारण कर सकता है। इस परमात्मा की सृष्टि में त्रय ताप—आधिभौतिक, आधिदैविक
और आध्यात्मिक—प्राप्त होते हैं और तीनों लोकों में तीन ही गुण विद्यमान हैं—तमस, रजस और सात्विक। विष्णु तीनों तापों और तीनों गुणों को धारण करने वाला देवता है—

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा निदधे पदम्।
समूढमस्य पांसुरे॥

(ऋग्वेद 1/22/17)

अर्थात् व्यापक ईश्वर विष्णु तीन प्रकार के प्रत्यक्ष, अप्रत्यक्ष जगत् को प्रकृति और परमाणु के साथ ग्रहण करके शरीर धारण करता है और इस तीन प्रकार के जगत्, पृथ्वी, अन्तरिक्ष और इन दोनों के मध्य का परमाणु जगत् अपने क़दमों से नापता है। भाव यही है कि तीनों लोक उसमें समाये हुए हैं।

इसे दूसरे अर्थ में इस प्रकार भी समझना चाहिए कि विष्णु धरती, आकाश और वर्षा तथा सूर्य के प्रकाश का महत्त्व भली प्रकार जानता है। उसे ग्रहण करके ही वह इस धरती को कृषियोग्य, रहने के योग्य और चलने के योग्य बनाता है। ऋग्वेद में विष्णु के इसी रूप की व्याख्या प्रतीकों के माध्यम से की गयी है। विष्णु के बिना धरती के किसी पदार्थ की सही स्थिति सम्भव नहीं है। वही उसकी रक्षा करता है—

त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः।
अतो धर्माणि धारयन्॥

(ऋग्वेद 1/22/18)

अर्थात् जो अविनाशी है, संसार की रक्षा करने वाला है और सारे जगत् को धारण करने वाला है, वह विष्णु संसार का अन्तर्यामी परमेश्वर तीन प्रकार से जाना जाता है। वह जानने और प्राप्त होने योग्य पदार्थों को जानता है और उन्हें व्यवहार में ला सकता है। इस प्रकार वह सभी पदार्थों की उपयोगिता को जानने वाला है।

विष्णु इन्द्र का सखा है। वह जानता है कि इन्द्र के सहयोग से किस प्रकार सभी पदार्थों का उपयोग किया जा सकता है—

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो ब्रतानि पस्पशे।
इन्द्रस्य युज्यः सखा॥

(ऋग्वेद 1/22/19)

अर्थात् जो सम्पूर्ण दिशाओं में, काल में और आकाश में व्यापक रूप से रमण करता है, सभी पदार्थों को जानता है, जो सभी प्रकार के सुख देने के कारण जीव

का सखा है, जिसके कारण सत्य बोलने और न्याय करने जैसे उत्तम कर्म प्राप्त होते हैं, ऐसे परमेश्वर विष्णु के समस्त कर्म—जगत् की रचना, पालन और न्याय—करना है। तुम्हें उसे अच्छी प्रकार से जानना चाहिए।

उपरोक्त मन्त्रों में विष्णु को जगत् का नियन्ता और पालनकर्ता परमेश्वर माना है। विष्णु परमपद का स्वामी है। उसका स्थान ऐसी जगह है, जहां मधु और आनन्द के झरने बहते हैं।

विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः।

(ऋग्वेद 1/154/5)

भारतीय धर्म-साहित्य में 'विष्णु' को सृष्टि का नियन्ता और पालनकर्ता माना गया है। वहां 'ब्रह्मा,' 'विष्णु,' 'महेश' की त्रिमूर्ति है, जो इस सृष्टि के महान् अवतार हैं। ब्रह्मा सृष्टि का रचयिता है, विष्णु सृष्टि का पालन करता है और महेश (शिव) इसका संहार करता है।

विष्णु का महत्त्व सबसे अधिक इसलिए है कि वह रक्षक है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने विष्णु को सर्वव्यापी ईश्वर माना है। ऋग्वेद में कहा भी है—

न ते विष्णो जायमानो न जातो देव महिम्नः परमन्तमाप।
उदस्तभ्ना नाकमृष्वं बृहन्तं दाधर्थ प्राचीं ककुभं पृथिव्याः॥

(ऋग्वेद 7/99/2)

अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान्, तीनों कालों में किसी की ऐसी शक्ति नहीं, जो परमात्मा (विष्णु) के महत्त्व को जान सके। इसीलिए उसका नाम अनन्त है। उसी ने द्युलोक को स्थिर कर रखा है। उसकी महिमा दर्शनीय है। वह पृथिवीलोक की सभी दिशाओं को धारण किये हुए है।

विष्णु ने असुरों को भगाकर, उनका संहार करके, समस्त श्रेष्ठजनों के लिए भूमि प्रदान की। उसने तीनों लोकों को विजित किया और भूमि को मुक्त कराया।

पर्जन्य

पर्जन्य शब्द से वर्षा अथवा मेघ का अर्थ स्पष्ट होता है। इससे इन्द्र की पत्नी शचि का भी बोध होता है, परन्तु मुख्य रूप से वर्षा से ही इसका सम्बन्ध स्थापित होता है। ऋग्वेद में पर्जन्य की स्तुति तीन सूक्तों में हुई है। इसे 'वृष्टि का देवता' माना गया है।

भूमि और कृषि के लिए वर्षा परम आवश्यक है। इन्द्र वर्षा का स्वामी है। वही वर्षा करता है और भूमि को उपजाऊ बनाता है। ब्रह्मचर्य आदि कर्म में वर्षा के जल का महत्त्व है—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः।
भूमि पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय॥

(ऋग्वेद 1/164/51)

अर्थात् जो जल बहुत दिनों से ऊपर जाता है—भाव यही है कि सूर्य के ताप से भाप बनकर हवा के सहयोग से जल ऊपर उठकर बादल का रूप ग्रहण करता है—वर्षाकाल में वही जल वर्षा के रूप में धरती पर बरसता है। यह ब्रह्मचर्य अग्निहोत्र के समान है। जैसे मेघ भूमि को तृप्त करते हैं, विद्युत् और अग्नि आकाश को तृप्त करते हैं, उसी प्रकार अग्निहोत्र से वायुमण्डल शुद्ध होता है।

ऋग्वेद में वर्षाऋतु का अत्यन्त सौन्दर्यपूर्ण चित्रण हुआ है। इस पर्जन्यरूपी देवता के प्रकट होने से पेड़-पौधे पल्लवित हो जाते हैं। उनकी सारी धूल झड़ जाती है। वनस्पति के उत्पादक तत्त्व के रूप में पर्जन्यदेव की महत्ता है। वर्षा के जल से सारी भूमि हरी-भरी हो जाती हैं। नयी-नयी जड़ी-बूटियां उत्पन्न हो जाती हैं, वृक्ष फल-फूलों से लद जाते हैं। प्रकृति में जीवन का नया संचार हो जाता है।

पर्जन्यकाल में वैदिक ऋषियों ने उमड़ते-घुमड़ते बादलों में अनेकानेक आकृतियों की कल्पना की है। नदियां जल से भर जाती हैं। पशु-पक्षी आनन्दित हो उठते हैं—

यत्पर्जन्य कनिग्रदत्स्तनयन् हंसि दुष्कृतः।
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि॥

(ऋग्वेद 5/83/9)

अर्थात् जो मेघ अत्यन्त गर्जन करके बरसता है, वह समस्त दुःखों को नष्ट कर देता है। पृथ्वी पर रहने वाले सभी प्राणी वर्षा के जल से आनन्दित हो जाते हैं।

ऐसा मेघ, जो अपने जल से संसार को पुष्ट करता है और दुःखों का नाश करता है तथा फलों को उत्पन्न करता है, वही मेघ विश्व को धारण करने वाला देवता है, ऐसा जानना चाहिए।

पर्जन्य का अर्थ ही 'परजन्य,' अर्थात् दूसरों के हित के लिए जो जन्म लेता है और अपने आपको उनके लिए मिटा देता है, वह जो पर्जन्य देवता है, वह नवीन सृष्टि का उत्पादक देवता है, वह भूमि की प्यास को तृप्त करता है, प्रकृति का नूतन श्रृंगार करता है तथा वही पशु-पक्षियों को जीवन देता है।

वायु

ऋग्वेद में वायु से परमेश्वर का अर्थ ग्रहण किया गया है। वायु परमेश्वर द्वारा प्रदत्त जीवों के लिए प्राण-शक्ति देने वाला है। इसे भौतिक वायु का रूप दिया गया है। इसे स्पर्श से अनुभव किया जा सकता है। संसार के प्रत्येक पदार्थ की शोभा

वायु के कारण ही है। वही उनकी रक्षा करता है। वायु के होने से ही सभी प्राणी बोलते हैं और सुनते हैं—

वायवायाहि दर्शते मे सोमा अरंकृताः।
तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥

(ऋग्वेद 1/2/1)

अर्थात् हे अनन्त बलयुक्त प्राणस्वरूप परमेश्वर! आप हमारे हृदय में प्रकाश कीजिये। जैसे आपने समस्त प्रत्यक्ष संसारी पदार्थों को सुशोभित कर रखा है और आप उनकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार हमारी रक्षा करते हुए आप हमारी प्रार्थना को स्वीकार कीजिये।

अन्तरिक्ष के सभी प्रत्यक्ष पदार्थों में वायु रमण करता है। वायु के स्पर्श और शब्द से परमेश्वर का अनुभव होता है। मनुष्य वायु द्वारा प्राणायाम करके परमेश्वर के परमतत्त्व को जान सकता है। वायु में समस्त लोकों और परमात्मा का प्रभामण्डल घिरा हुआ है। उसका भौतिक स्वरूप यही प्राणरूप वायु है।

संस्कृत ग्रन्थों में 'वायुः सोमस्य' कहकर वायु शब्द से परमेश्वर और भौतिक, दोनों स्वरूपों को ग्रहण किया गया है। वायु, अर्थात् परमेश्वर द्वारा उत्पन्न हुए इस जगत् की रक्षा करने वाला देव है। वही जीवन का आधार है। यहां ईश्वर और सोमलता के रस को ग्रहण करने से भौतिक वायु का ग्रहण करना जानना चाहिए।

अनेक स्थानों पर वायु को अग्नि के रूप में लिया गया है—'वायुर्वाअ.' इत्यादि। यहां वायुरूप में परमेश्वर जगत् को प्रकाश देने वाला है तथा अन्तरिक्षलोक में भौतिक वायु को अग्नि के तुल्य स्वीकार करके उसे यज्ञ आदि के द्वारा वायुमण्डल में पहुचांने वाला माना गया है।

भाव यही है कि जो ईश्वर द्वारा रचा गया भौतिक वायु है, उसी से सभी पदार्थों और जीवों की रक्षा होती है और वे सुशोभित होते हैं। जैसे प्रेमभक्ति से की गयी प्रार्थना को परमात्मा सुनता है, वैसे ही भौतिक वायु के कारण से जीव शब्दों का उच्चारण करता है और उन्हें सुन पाता है।

वैदिक ऋषियों ने वायुदेव की स्तुति करते हुए कहा है—

वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः।
सुत सोमा अहर्विदः॥

(ऋग्वेद 1/2/2)

अर्थात् हे अनन्त बलशाली वायु (परमेश्वर)! जो-जो विज्ञानस्वरूप प्रकाश को प्राप्त करने तथा ओषधि आदि पदार्थों के रस को उत्पन्न करने और स्तुति तथा सत्कार करने वाले विद्वान् लोग हैं, वे वेद-मन्त्रों में आपसे साक्षात् प्रवेश करने के लिए स्तुति करते हैं।

यहां पर परमेश्वर और भौतिक वायु के गुणों पर प्रकाश डाला गया है। परमार्थ विद्या की सिद्धि के लिए वायु की जीवनी शक्ति की उपासना की गयी है।

वायु और सूर्य का प्रकाश सभी सांसारिक पदार्थों को बाहर से तथा जीवन और प्राण शरीर के भीतरी अंग आदि में शक्ति बनकर रहता है। लेकिन ईश्वर के बिना इस प्राण की अपेक्षा करना व्यर्थ है।

वायु से प्राणतत्त्व का बोध होता है और यह प्राणतत्त्व ही ईश्वर है। वायु त्वरित गति से गमन करके 'पालन' और 'क्षय' दोनों करता है। प्राणवायु शरीर में उपस्थित सभी पदार्थों में रस उत्पन्न करता है। वही पालन करता है और वही क्षय करता है। शरीर छोड़ देने से शरीरान्त निश्चित हो जाता है। वायु के संसर्ग से ही अग्नि प्रदीप्त होती है। अग्निहोम द्वारा वायु की शुद्धि की जाती है और सुख प्राप्त किया जाता है—

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः।
मरुद्भिरग्न आ गहि॥

(ऋग्वेद 1/19/5)

अर्थात् जो वायु यज्ञ के धुएं से पवित्र किया गया हो, वह रोग और दोषों को नष्ट करता है। अशुद्ध और दुर्गन्ध आदि दोषों से भरा वायु सुखों का नाश करने वाला होता है। इसलिए मनुष्यों को चाहिए कि वे अग्नि द्वारा होम करके व वायु को शुद्ध करके अनेक प्रकार के सुखों को सिद्ध करें।

वायु को 'पवन' और 'मरुत' नाम भी दिया गया है। वायु को शीतल, मन्द और सुगन्धित पवन कहा गया है और मरुत की भांति तीव्र झंझावात भी। मनुष्य जितने कर्म तथा अनुष्ठान आदि करता है, उनमें पवन अथवा वायु का होना अनिवार्य है। दूरस्थ श्रोता को सुनाने के लिए वायु की गति अत्यावश्यक होती है। वायु के बिना किसी भी अंग का संचालन सम्भव नहीं है—

इहेव श्रृण्व एषां कशा हस्तेषु यद्वदान्।
नियामँश्चित्रमृञ्जते॥

(ऋग्वेद 1/37/3)

अर्थात् वायु की इच्छा रखने वाले विद्वान् के लिए यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि मनुष्य के सभी कर्मों में वायु की आवश्यकता होती है। उसके अभाव में वह कुछ भी नहीं कर सकता। न बोल सकता है, न सुन सकता है, न चल सकता है, न नेत्र-संचालन कर सकता है, न सांस ले सकता है। अतः वायुदेव की स्तुति निश्चित माननी चाहिए।

'मैक्समूलर' का कहना है कि 'सारथियों' के कशा (चाबुक) को सुनकर तथा अति समीप हाथों में उन पवनों को प्रहार करते देखकर वे अत्यन्त शोभायमान प्रतीत होते हैं। वे यामन मार्ग से देव को जाते देखते हैं, जिन पर बलिदान करने वाले गये हैं।

परन्तु यहां 'कशा' और 'यामन' का अर्थ वे ग़लत करते हैं। 'कशा' से क्रिया और 'यामन' से मार्ग में व्यवहृत होने वाले कर्मों को जानना चाहिए। तब भाव होगा—'सारथियों के क्रियाकलाप को देखकर मार्ग में पवन-वेग से जाते हुए उनके कर्म को देखो।'

भाव यही है कि क्रिया और कर्म में पवन (वायु) का बड़ा महत्त्व है। वायु के बिना कोई भी क्रिया सम्भव नहीं है। वायु के संयोग से ही शारीरिक क्रियाएं सम्पन्न होती हैं और शरीर में बल की वृद्धि होती है।

वायु पिता के समान है। वायु के भय से मेघों के समान शत्रुजन शीघ्र पलायन कर जाते है। वायु जीवन का आधार है। इसीलिए ऋग्वेद में वायुदेव की महत्ता का प्रतिपादन करते हुए उसे परमेश्वर के समान माना गया है और उसकी स्तुति भी की गयी है।

इस जीवन में पांच तत्त्वों का विशेष महत्त्व है। हमारा यह पार्थिव शरीर इन पांच महाभूत तत्त्वों के बिना निरर्थक है। ये पांच महाभूत तत्त्व हैं—पृथिवी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। इन पांच तत्त्वों के संयोग से ही हमारा यह स्थूल शरीर बनता है। यदि इनमें से एक तत्त्व भी निकल जाये या वह खण्डित हो जाये, तो शरीर नष्ट हो जाता है। इन पांच तत्त्वों को एकसूत्र में बांधने का कार्य करती है आत्मा। यह आत्मा ही परमात्मा का अंश है।

कहने का आशय यही है कि 'वायु' का महत्त्व इतना अधिक है कि इसके अभाव में जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। वायु शरीर में 'प्राणवायु' के रूप में हमारे जीवन को सक्रिय रखती है और 'अपान वायु' के रूप में हमारे स्थूल शरीर के सारे दोषों को बाहर कर देती है। अतः यह केवल देवता ही नहीं, हमारे जीवन का आधार भी है।

ऋग्वेद की देवियां

'ऋग्वेद' में देवियों की स्तुतियां न के बराबर हैं। देवों की स्तुतियां ही वहां अधिक हैं, परन्तु ऐसा नहीं है कि वैदिककाल में नारियों का सम्मान कम था। नारी को 'मातृशक्ति' के रूप में वहां पूरा सम्मान और आदर प्राप्त था। जीवन के समस्त कर्मकाण्डों में नारियों की सहभागिता पुरुषों के समान ही थी।

ऋग्वेद में दो देवियों की उपासना की गयी है। ये दोनों —'उषा' और 'अदिति'—प्रकृति देवियां हैं। चराचर ब्रह्माण्ड के मध्य इन देवियों का विशेष महत्त्व है और इनका कलात्मक पक्ष भरपूर सौन्दर्य से मण्डित है।

उषस

ऋग्वेद में उषाकाल को देवी के रूप में चित्रित किया गया है। प्रातःकाल की वेला में उदित होने वाली यह देवी पवित्र भावनाओं को जन्म देने वाली है। इस देवी की स्तुति लगभग 20 सूक्तों में हुई है। उषा सभी के साथ स्नेह और प्रीति रखने वाली है। जीवन के दाह को नष्ट करने वाली है और सभी को प्रकाश देने वाली है—

एषो उषा अपूर्व्या व्युच्छति प्रिया दिवः।
स्तुषे वामश्विना बृहत्॥

(ऋग्वेद 1/46/1)

अर्थात् हे विदुषी! तेरी जैसी देदीप्यमान दिव्य आभा पहले कभी किसी की नहीं हुई। तू सूर्य के प्रकाश से उत्पन्न सभी को प्रीति देने वाली है। तू दाह का नाश करने वाली है। प्रातः से ही प्रकाश की द्युति सर्वत्र विकीर्ण करने वाली है। हे सुख देने वाली देवी! मैं तेरी प्रशंसा करता हूं। जो स्त्री सूर्य-चन्द्र के समान सभी को सुख देने वाली है, वह देवी उषा है। मैं तेरा नमन करता हूं।

उषा समस्त विद्याओं की प्रकाशक देवी है। उषाकाल में ही शिष्य पवित्र भावों से विद्याध्ययन करते हैं। वह सभी को प्रातःवेला में नवजीवन का दान देने वाली देवी है—

सह वामेन न उषो व्युच्छा दुहितर्दिवः।
सह द्युम्नेन बृहता विभावरि राया देवि दास्वती।

(ऋग्वेद 1/42/1)

अर्थात् हे सूर्यपुत्री उषा! अनेक दिव्य तथा द्युतिमान सुशिक्षिताओं से प्रकाशमान कन्या! तू प्रशस्त दान देने वाली है। तू प्रकाश की राज्यलक्ष्मी है। तू अपने दिव्य प्रकाश से हमें कर्म करने की प्रेरणा देती है।

जो स्त्री उषा के समान सुख देने वाली है,जो सती स्त्री के समान धर्मयुक्त आचरणों से युक्त है, जो समुद्र के समान विद्या की देवी है, उसे प्राप्त कर विद्वान् लोग आनन्दित होते हैं। वे आपकी प्रार्थना करके और ज्ञान को ग्रहण करके जीवनमुक्त होने का वरदान पाते हैं—

उषो ये ते प्र यामेषु युञ्जते मनो दानाय सूरयः।
अत्राह तत्कण्व एषां कण्वतमो नाम गृणाति नृणाम्॥

(ऋग्वेद 1/48/4)

अर्थात् हे देवी उषा! जो मनुष्य उषाकाल के एकान्त में पवित्र, निरापद और उपद्रवविहीन स्थान पर आपकी उपासना करते हैं और यम-नियम आदि साधना में रत रहते हैं, वे निर्मल और पवित्र आत्मा होकर ज्ञानी और श्रेष्ठ-सिद्ध पुरुष कहलाते हैं। जो उनकी संगति करते हैं, वे भी अपने शुद्ध अन्तःकरण से आत्मयोग को जानने के अधिकारी हो जाते हैं।

हे सूर्यप्रकाश की पुत्री के समान कन्या! जैसे सूर्य और चन्द्र के प्रकाश से हम पुरुषार्थी लोगों को सौभाग्य की प्राप्ति होती है, वैसे ही उषाकाल में किये गये पुरुषार्थ से सौभाग्य के द्वार खुल जाते हैं। हे देवी! तू समस्त संसार को प्रकाश देने वाली है। तू ही विद्या और शान्ति की देवी है। जैसे कोई विदुषी कन्या अपने धर्म तथा आचरण से माता-पिता और पति के कुल को उज्ज्वल करती है, वैसे ही उषा दोनों स्थूल और सूक्ष्म, अर्थात् छोटी-बड़ी सभी वस्तुओं को प्रकाशित करती है।

उषादेवी का यह विशिष्ट गुण है कि वह अपने पावन प्रकाश से भूत, भविष्य और वर्तमान में होने वाले अथवा आने वाले सभी मार्गों को प्रकाशित करती है। इसी भांति सभी मनुष्यों को भी चाहिए कि वे सभी ऋतुओं में सभी घरों को सुख देने वाले पदार्थों से परिपूर्ण करें और स्वयं भी सुख से रहें।

उषा सबको प्रकाश ही नहीं देती, उन्हें ब्रह्मचर्य, विद्या और योग की ओर प्रेरित भी करती है—

उषो भद्रेभिरागहि दिवश्चिद्रोचनादधि।
वहन्त्वरुणप्सव उप त्वा सोमिनो गृहम्॥

(ऋग्वेद 1/49/1)

अर्थात् हे शुभ गुणों से युक्त प्रभा की देवी उषा! तू सभी तरह के कल्याणकारी गुणों को प्रदान करने वाली है। जैसे तेरी प्रातःकालीन लालिमा को भेदकर विद्वान् लोग ध्यान करते हैं, उसी प्रकार तू भी उन्हें ब्रह्मचर्य, विद्या और योग-साधना करने की प्रेरणा देती है। हम तेरा नमन करते हैं। तेरे समान कल्याणकारी नारी सभी को प्राप्त हो, हम ऐसी प्रार्थना करते हैं।

भाव यही है कि उषाकाल में पूर्ण ब्रह्मचर्य के साथ योग-साधना करने की प्रेरणा सभी को प्राप्त हो'

यह प्रकृति देवी उदार व्यक्तियों को कहीं उत्तम सन्तान का सुख देने वाली है, तो कहीं आलसियों को सोता छोड़कर अपने भक्तों को जाग्रत करके ज्ञान-विज्ञान

का फल देने वाली है। यह नवीन जीवन का और पवित्र आशाओं का सन्देश देने वाली है। यह प्राणिमात्र को पुरातन का मोह छोड़कर एक नये जीवन में प्रवेश करने का नित्य-प्रति उपदेश देती है।

प्रकाश से द्युतिमान उषाकाल में पूर्व दिशा में प्रकट होने वाली यह देवी सृष्टि की दिव्य नटी है—

अधि पेशांसि वपते नृतूरिवापोर्णुते वक्ष उस्त्रेव बर्जहम्।
ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वती गावो न व्रजं व्युशषा आवर्त्तमः॥

(ऋग्वेद 1/92/4)

अर्थात् हे उषा! तू सूर्य की किरणों के समान नृत्य करने वाली नटी है। तू अनेकानेक रूप धारण करके अन्धकार को दूर करती हुई प्रकाश की रश्मियां विकीर्ण करती है। जैसे गोधूलि वेला में गायें अपने घरों को लौटते हुए अपने प्रकाश से अन्धकार को ढक लेती हैं, वैसे ही तू अपने प्रकाश से अन्धकार को दूर करती है।

उषा का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह सूर्य के मार्ग को प्रशस्त करती है। उषा रात्रि के अन्धकार को दूर कर स्वर्ग के द्वार खोलने वाली देवी के समान प्रतीत होती है।

अग्नि को उषा का प्रेमी कहा गया है; क्योंकि उषाकाल में ही वैदिक ऋषि यज्ञ आदि के लिए अग्नि प्रज्वलित करते हैं और उषा की स्तुति में, अग्नि में आहुति डालते हैं। उषा धन-धान्य देने वाली है, सभी शुभकर्मों को करने वाली है, ज्ञान और सौभाग्य को प्रकट करने वाली है। वह उदार, पवित्र और निर्मल भावनाओं को जन्म देने वाली है।

उषा, प्रातःकाल में सूर्योदय से पूर्व की लालिमा है। वह दिव्य परिधान धारण करने वाली देवी है। जयशंकरप्रसाद ने उषा के लिए 'कामायनी' महाकाव्य में लिखा है—

'उषा सुनहले तीर बरसती जय लक्ष्मी-सी उदित हुई।
उधर पराजित कालरात्रि भी जल में अन्तर्निहित हुई॥'

इस प्रकार वैदिक ऋषियों के काल से आज तक 'उषा' के स्वर्णिम स्वरूप की ओर सभी का ध्यान आकृष्ट हुआ है। यह विजय की देवी के समान प्रतिदिवस भोर में जन-जीवन के लिए जाग्रति का सन्देश लेकर आने वाली देवी है। इसका मनोहारी रूप नवस्फूर्ति और नवचेतना देने वाला है। यह सुख, समृद्धि, स्वास्थ्य, पावनता और निर्मलता की देवी है।

अदिति

अदिति अनन्त की देवी है। ऐसी देवी, जो असीम ब्रह्माण्ड के कण-कण में

समाई हुई है। ऋग्वेद में अदिति को अनन्त, असीम की देवी माना है। अदिति को पृथिवी और आकाश के साथ भी जोड़ा गया है। अनन्त पृथिवी या अनन्त द्यौ, अर्थात् आकाश। यह प्रारम्भ की बात है, किन्तु धीरे-धीरे अदिति को सम्पूर्ण सृष्टि अथवा प्रकृति के साथ जोड़कर देखा जाने लगा। अदिति सूर्य की माता है।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः।
विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥

(ऋग्वेद 1/89/10)

अर्थात् प्रकाशयुक्त परमेश्वर अथवा अनन्त, असीम, आकाश (अदितिः) तुम अविनाशी हो। हे माता (अदितिः), हे विद्या (अदितिः), हे पिता (अदितिः), हे पुत्र (अदितिः), हे नियोग से उत्पन्न क्षेत्रज पुत्र (अदितिः), हे विश्व, हे देव, हे दिव्य गुण वाले विद्वान् तथा पदार्थ (अदितिः) तुम सभी पांच ज्ञानेन्द्रियों और जीवात्माओं के समान अविनाशी हो।

भाव यही है कि इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी पदार्थ, जड़ और चेतन विद्यमान है, वह सब अदिति है, अर्थात् अनन्त और अविनाशी है। वह नित्य है।—

माता देवानामदितेरनीकं यज्ञस्य केतुर्बृहती विभाहि।
प्रशस्तिकृद् ब्रह्मणे नो व्युश्च्छा नो जने जनम विश्वकरे॥

(ऋग्वेद 1/113/19)

अर्थात् हे समस्त कल्याण को स्वीकार करने वाली देवी! गृहस्थाश्रम के व्यवहार में विद्वानों आदि का सत्कार करने वाली, यश की पताका के समान प्रसिद्ध और सेना की प्रशंसा के योग्य, तू सन्तान की रक्षा करने वाली है और अत्यन्त सुख देने वाली है। हे अदिति! तू विद्वानों की जननी है। आध्यात्मिक ज्ञान हेतु प्रभात की वेला के समान तू अनन्त सृष्टि में प्रकाशित हो और हमारे कुटुम्बीजनों में प्रीति उत्पन्न करके हमारे सुख को स्थिर कर।

यह प्रकाशमयी अदिति, प्रजा के कष्टों, पापों और दुःखों का विनाश करने वाली देवी है। अदिति सुख-समृद्धि और ऐश्वर्य को प्रदान करने वाली है। यह हमारे सौभाग्य की देवी है। ऋग्वेद में अदिति की स्तुति इस प्रकार की गयी है—

विश्वस्मान्नो अदितिः पात्वंहसो माता मित्रस्य वरुणस्य रेवतः।
स्वर्वज्ज्योतिवृकं नशीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे॥

(ऋग्वेद 10/36/3)

अर्थात् हे धन-समृद्धि के दाता सूर्यदेव और जल अथवा प्राण-अपान की माता अदिति! समस्त प्राकृतिक रोगों तथा बुरी वस्तुओं के संसर्ग से हमें बचाओ। हम बाधारहित व सब प्रकार की तेजस्विता को ग्रहण करें। हम दिव्य शक्तियों के

रक्षण को स्वीकार करते हैं, ताकि सौभाग्य और ऐश्वर्य को प्रदान करने वाली देवी अदिति हमारी उन्नति करे और हमें सुख प्रदान करे।

जो तत्त्व समस्त पदार्थों का भक्षण, अर्थात् जो समस्त पदार्थों को अपने भीतर समेटने की सामर्थ्य रखता है और समस्त पदार्थ अथवा तत्त्व जिसके भीतर व्याप्त हों, उसे अदिति कहते हैं। वेदों में अदिति उस चैतन्य सत्ता का प्रतीक है, जो जगत् को असत्य से निकालकर सत्य के मार्ग पर लाती है।

मानवीय रूप में अदिति देवमाता है। ये देव अमृत के पुत्र कहलाते हैं— 'अमृतस्य पुत्राः।' आदित्य अर्थात् अनन्तता और असीमता के गुण धारण करने वाले देव ही अदितिपुत्र 'आदित्य' कहे जाते हैं। 'आदित्य' सूर्य का पर्याय है।

'अदिति' आठ आदित्यों की माता है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख मिलता है—

अष्टो पुत्रासो अदितेः।

(ऋग्वेद 10/72/2)

ये पुत्र हैं—महत्तत्त्व, अहंकार, पांच इन्द्रियां और आठवां सूर्य। सात प्रकृति-विकृतिरूपी पुत्रों में प्रकृति सूक्ष्मावस्था में रहती है, परन्तु आठवें में स्थूल सूर्य के रूप में प्रकट होती है, जो मरणधर्मा है। अदिति के ये पुत्र शूरवीर हैं। इन पुत्रों में मित्र, वरुण और अर्यमा का विशेष महत्त्व है।

अदिति के पिता दक्ष माने जाते हैं। कहीं-कहीं दक्ष को अदिति का पुत्र भी कहा गया है। 'दक्ष' निपुण और कुशल व्यक्ति को कहते हैं, जबकि अदिति को 'मुक्ति की देवी' कहा जाता है, अर्थात् जो दक्ष है, कुशल है, अपनी साधना में पारंगत है, जिसे किसी प्रकार का मोह नहीं है, कोई बन्धन नहीं है, वही व्यक्ति मुक्ति प्राप्त कर सकता है।

ऋग्वेद में ऋषियों के मन में संसार से विरक्ति और मोक्ष प्राप्त करने की भावनाएं प्रबल रूप से रही होंगी। वे सांसारिक मोह-माया के बन्धनों से छूट जाना चाहते होंगे। इसलिए वे मुक्ति की देवी 'अदिति' की स्तुति करते थे। वह अदिति की कृपा से जीवन को पापरहित, शुद्ध और सत्य के निकट ले जाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अदिति के प्रभामण्डल से अपने जीवन को शुद्ध और पवित्र बनाने का प्रयास किया था।

आदित्यानामवसा नूतनेन सक्षीमहि शर्मणा शंतमेन।
अनागास्त्वे अदितित्वे तुरास इमं यज्ञं दधतु श्रोषमाणाः॥

(ऋग्वेद 7/51/1)

अर्थात् हम तत्काल समस्त अपराधों से रहित होकर यज्ञ के पावन कर्म के साथ जुड़ें और विद्वानों की संगति से अत्यन्त सुख को प्राप्त करते हुए उनके साथ संसर्ग करें।

ऋग्वैदिक ऋषियों ने आदित्यों के उदाहरण से कहा है कि जैसे देवी अदिति अपने प्रकाश से जीवन को आलोकित करती है और मित्र, वरुण तथा अर्यमा आदि आदित्य मैत्री भाव प्रकट करते हैं, जीवन को व्यवस्थित करते हैं, स्वच्छ जल पान करने के लिए देते हैं और लोकसमूह की रक्षा करते हैं, उसी प्रकार वे हमें भी आनन्दित करें, हमें सुख दें और हमारे जीवन को सौभाग्य की रश्मियों से प्रकाशित करें।

इस प्रकार वैदिक ऋषियों ने जिस प्रकार अदिति देवी से प्रार्थना करके अपने जीवन में सौभाग्य का आलोक मांगा था, उसी प्रकार प्रकाश की देवी, मुक्ति की देवी और नवीन चेतना की देवी अदिति हमारी भी रक्षा करे और हमें सुख-शान्ति का जीवन प्रदान करे।

❑❑

यजुर्वेद

"यजुर्वेद कर्म का वेद है। जिन मन्त्रों के द्वारा यज्ञकर्म किये जाते हैं, वे सभी यजुर्वेद के मन्त्र हैं। देवपूजा, संगति और दान का विशेष महत्त्व यजुर्वेद के मन्त्रों में दर्शाया गया है। यहां कर्मकाण्ड की वैज्ञानिक रीति पर अधिक बल दिया गया है; क्योंकि इसी के द्वारा मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। सर्वजनकल्याण के लिए ईश्वरीय ज्ञान को, जब योग्यतम कर्मों के द्वारा किया जाता है, तब उसे यजुर्वेद का नाम दिया जाता है।"

यजुर्वेद : महत्त्वपूर्ण मन्त्र

"अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तदशकं तन्मेऽराधीदमहं यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि॥"

—(यजुर्वेद 2/28)

***अर्थ*—हे अग्निस्वरूप परमेश्वर! आपने कृपा करके मेरे लिए जो सत्याचरण व्रत सिद्ध किया है, उसे मैं अच्छी प्रकार नियमपूर्वक कर सकूं, ऐसा मुझे बनाइये। मैंने जो भी उत्तम या अधम कर्म किये हैं, मैं उन्हें भोगता हूं।**

भाव यही है कि मनुष्य को अपने मन में यह विचार कर लेना चाहिए कि जैसा कर्म वह करेगा, उसे उसी के अनुसार फल भोगना होगा। सुख भोगने के लिए धर्मयुक्त कर्म ही करने चाहिए।

**"विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम्।
विश्वो राय इषुध्यति द्युम्नं वृणीत पुष्यसे स्वाहा॥"**

—(यजुर्वेद 11/67)

***अर्थ*—जिस प्रकार विद्वान् लोग परमात्मा की मैत्री को प्राप्त करते हैं, वैसे ही सभी मरणधर्मा लोग परमात्मा की मैत्री को प्राप्त करें। सभी मनुष्य लक्ष्मी व शोभा को प्राप्त करने के लिए शस्त्र धारण करें। सत्यवाणी, यश और अन्न को ग्रहण करें और अपने को पुष्ट करें।**

भाव यही है कि जैसे ज्ञानी पुरुष ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं और सुख-सम्पदा, ऐश्वर्य तथा यश प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं और सदैव स्वस्थ रहते हैं, उसी प्रकार हमें भी प्रयत्नशील होना चाहिए।
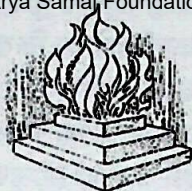
यजुर्वेद

'यजुर्वेद' कर्म का वेद है। विद्वानों का मत है कि यजुर्वेद की रचना वायु नामक ऋषि ने की थी। वायु गतिशीलता का प्रतीक है। कर्म में भी गति की प्रधानता होती है। कोई भी कर्म गति के बिना सम्भव नहीं है।

रचना-प्रक्रिया

इस प्रकार यजुर्वेद में जिन मन्त्रों को रखा गया है, वे प्रायः 'कर्मकाण्ड' से ही सम्बन्धित हैं। वैदिककाल में यज्ञ करना ही सबसे बड़ा कर्मकाण्ड था। अतः यजुर्वेद में जो मन्त्र संकलित किये गये हैं, वे यज्ञकर्म के ही मन्त्र हैं। यजुर्वेद में यज्ञ को ही श्रेष्ठकर्म बताया है।

जिस प्रकार 'ऋग्वेद' का पुरोहित 'होता' देवों का आह्वान करता है, उसी प्रकार यजुर्वेद में देवों का आह्वान करने वाला ऋषि अथवा पुरोहित 'अध्वर्यु' नाम से जाना जाता है। यज्ञ के संचालन और यज्ञ से सम्बन्धित विविध क्रिया-व्यापार में 'अध्वर्यु' का विशेष महत्त्व है।

'मनुस्मृति' में यजुर्वेद का रचयिता वायु नामक ऋषि है। विद्वानों ने 'यजुर्वेद' के विविध अर्थ किये हैं।

जिन मन्त्रों द्वारा यज्ञकर्म किये जाते हैं, वे यजुर्वेद के मन्त्र हैं। दूसरे, अनियमित अक्षरों से समाप्त होने वाले वाक्यों को 'यजुः' कहा जाता है, अर्थात् गद्य शैली में लिखे गये मन्त्र यजुर्वेद में आते हैं। इस प्रकार गद्यात्मक मन्त्रों का संकलन 'यजुः' है।

इसका अर्थ यही है कि 'यजुर्वेद' में गद्यात्मक वाक्यों का अथवा मन्त्रों का वह संकलन है, जिसके द्वारा यज्ञादि कर्म किये जाते हैं। 'यजुः' शब्द यज धातु से बना है। जिसका अर्थ है—देवपूजा, संगति और दान। यजुर्वेद में कर्मकाण्ड ही है, अतः इसकी समस्त क्रियाएं एवं गतियां, देवपूजा, संगति और दान के अन्तर्गत आती हैं। क्रिया और गति का इससे अच्छा कोई वर्गीकरण नहीं किया जा सकता। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे 'यजः' कहा गया है। वहां देवपूजा और कला-कौशल आदि का संगति कारण तथा दान करने से इसे यजः कहा गया है। कहीं इसे यन्+जूः भी कहा गया है, अर्थात् ज्ञान, गमन, प्राप्ति और मोक्ष का समन्वय करते हुए प्रयत्न या क्रिया के कौशल को कराने वाला यन्+जूः होते हुए यजुः है।

'ऋग्वेद' में ज्ञान-विज्ञान के प्रायः सभी गुणों का बखान ऋचाओं द्वारा किया

गया है। इसमें उन सभी पदार्थों का विश्लेषण किया गया है, परन्तु उन पदार्थों के गुणों का उपयोग किस प्रकार करना चाहिए और उनसे अधिकतम लाभ किस प्रकार उठाना चाहिए, उन सब कर्म साधनों का प्रकाशन 'यजुर्वेद' में किया गया है; क्योंकि जब तक कर्म करने का ढंग न आता हो, उसका यथेष्ठ ज्ञान न हो, तब तक उससे श्रेष्ठ लाभ अथवा सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता।

सोच-समझकर मन्त्रों का उद्घोष करने से और पूर्ण नियमों के साथ यज्ञकर्म करने से ही उसका समुचित लाभ उठाया जा सकता है। विवेक द्वारा धर्म और पुरुषार्थ का संयोग करना चाहिए।

सभी यज्ञकर्म, वैज्ञानिक रूप से एवं शुद्ध प्रणाली से करने चाहिए। कर्मकाण्ड विज्ञान के निमित्त ही किया जाना चाहिए। वैज्ञानिक रीति से कर्मकाण्ड करने पर उत्तम और मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है। शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होती है।

ऐसा कोई जीव नहीं है, जो मन, प्राण, वायु और इन्द्रियों के साथ-साथ शरीर को गति दिये बिना ही कर्मफल प्राप्त कर सके। जीव अल्पज्ञ होते हुए भी बुद्धि से चेतन है। इसलिए 'ऋग्वेद' में पदार्थों के गुणों-अवगुणों का जो उल्लेख प्राप्त होता है, उसे 'यजुर्वेद' में क्रिया द्वारा जीवन में उतारने की प्रेरणा दी गयी है। 'ऋक्' और 'यजुः' शब्दों का अर्थ भी यही है। भाव यही है कि ईश्वरीय पदार्थ ज्ञान को, विद्वानों की संगति से व व्यावहारिक रूप से जन-जीवन में उतारा जाये। उन्हें जाना-समझा जाये।

सर्व जनकल्याण के लिए ईश्वरीय ज्ञान-विज्ञान को, जब योग्यतम कर्मों के द्वारा प्रसारित करने की क्रिया की जाती है, तब उस क्रिया को 'यजुर्वेद' नाम दिया जाता है।

'यजुर्वेद' में चालीस अध्याय हैं। इन चालीस अध्यायों में सब मिलाकर एक हज़ार नौ सौ पचहत्तर (1,975) मन्त्र हैं। ये मन्त्र जीवन की व्यापक गति को चिह्नित करते हैं। मानव-जीवन का विशद स्वरूप इन मन्त्रों में ध्वनित होता है।

कुछ विद्वान् इन्हें 'ब्राह्मण ग्रन्थों' तथा 'श्रौत सूत्रों' में दिये गये विविध नामों वाले यज्ञों में की गयी विभिन्न क्रियाओं वाले मन्त्रों या यजुओं का संग्रह मानते हैं। उनका कहना है कि अमावस्या, पौर्णमास तथा अग्निहोत्र सम्बन्धी मन्त्रों का संकलन 'यजुर्वेद' में है, परन्तु केवल इतना ही नहीं है। यहां और भी बहुत कुछ है।

यजुर्वेद का वर्गीकरण

यजुर्वेद के दो प्रमुख वर्ग किये जाते हैं—'शुक्ल यजुर्वेद' और 'कृष्ण यजुर्वेद'।

'शुक्ल यजुर्वेद' की दो शाखाएं हैं—'माध्यन्दिन' और 'काण्व'।

'कृष्ण यजुर्वेद' की चार शाखाएं हैं—'तैत्तिरीय,' 'मैत्रायणी,' 'काठक' और 'कपिष्ठलकठ'।

'शुक्ल यजुर्वेद' और 'कृष्ण यजुर्वेद' के अन्तर को समझने के लिए इनके स्वरूप को समझना आवश्यक है। यह वेद दो सम्प्रदायों में बंटा हुआ है—'ब्रह्म सम्प्रदाय' और 'आदित्य सम्प्रदाय'।

ब्रह्म सम्प्रदाय का सम्बन्ध 'कृष्ण यजुर्वेद' से है और आदित्य सम्प्रदाय का सम्बन्ध 'शुक्ल यजुर्वेद' से है।

'शुक्ल यजुर्वेद' में 'अमावस्या,' 'पूर्णिमा' और अग्निहोत्र के लिये किये जाने वाले अनुष्ठानों के मन्त्रों का संग्रह है और 'कृष्ण यजुर्वेद' में विधि वाक्यों, आख्यान तथा मन्त्रों का मिश्रित स्वरूप उपलब्ध होता है।

'शुक्ल' का अर्थ है 'श्वेत,' अर्थात् शुद्ध और पवित्र मन्त्रों का संकलन। 'कृष्ण' का अर्थ है 'काला,' अर्थात् अशुद्ध मन्त्रों का संग्रह, परन्तु यहां काला से अशुद्ध मन्त्रों का अर्थ करना भारी भूल होगी। यहां मन्त्रों के साथ ब्राह्मण-अंश, अर्थात् विधि-वाक्यों, आख्यान आदि का मिश्रण मानना चाहिए।

'शुक्ल यजुर्वेद' में जो मन्त्र दिये गये हैं, उनकी व्याख्याएं और उनके प्रयोग की विधि, अर्थात् उन्हें प्रस्तुत करने का ढंग नहीं समझाया गया है। जबकि 'कृष्ण यजुर्वेद' में मन्त्रों के साथ उनकी व्याख्या और प्रयोग-विधि को भी बताया गया है।

'शुक्ल यजुर्वेद' विषय की दृष्टि से शुद्ध, पवित्र और निर्मल है, जबकि 'कृष्ण यजुर्वेद' में गद्य-पद्य और ब्राह्मणों मन्त्रों के मिश्रण से मन्त्रों को समझने में थोड़ी कठिनाई आती है।

'शुक्ल यजुर्वेद' के मन्त्रों का प्रचलन उत्तर भारत में अधिक पाया जाता है और 'कृष्ण यजुर्वेद' का दक्षिण में।

शुक्ल यजुर्वेद की विषयवस्तु

'शुक्ल यजुर्वेद' में चालीस अध्याय हैं, परन्तु अनेक विद्वान् इसके प्रथम पच्चीस अध्यायों को ही मौलिक मानते हैं। बाद के अध्यायों को प्रक्षिप्त माना जाता है, अर्थात् ये अध्याय बाद में जोड़े गये प्रतीत होते हैं। कुछ विद्वान् यजुर्वेद के प्रथम अट्ठारह अध्यायों को ही मौलिक मानते हैं; क्योंकि बाद के इन अध्यायों में गद्य-पद्य मिश्रित मन्त्र बहुतायत से हैं, जो कि 'शुक्ल यजुर्वेद' की मन्त्र-विद्या से बिल्कुल अलग हैं।

यजुर्वेद में कर्म का विशेष महत्त्व है। इस कर्म में ही 'यज्ञ' आता है, परन्तु कहीं-कहीं प्रसंगवश इसमें कुछ ऐसे मन्त्र भी हैं, जिनके द्वारा मनोविज्ञान, अध्यात्मदर्शन और पर्यावरण आदि पर प्रकाश पड़ता है।

सामान्य रूप से जिस 'यजुर्वेद' का उल्लेख मिलता है, उसमें 'कण्व' और 'माध्यान्दिनीय' शाखाओं का विवेचन है।

'यजुर्वेद' के प्रथम तीन अध्यायों में, अमावस्या (दर्श), पौर्णमास, अग्निहोत्र (सायंकालीन) तथा चतुर्मास से सम्बन्धित मन्त्र मिलते हैं। इन प्रथम तीन अध्यायों में (31+34+63 = 128) कुल एक सौ अट्ठाईस मन्त्र हैं।

प्रथम अध्याय के प्रथम मन्त्र में ही उत्तम-उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए मनुष्यों को ईश्वर की प्रार्थना करने की प्रेरणा दी गयी है—

"ओ३म् इषे त्वोर्जे त्वा वायव स्थ देवो वः सविता प्रार्पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय भागं प्रजावतीरनमीवाऽअयक्ष्मा मा व स्तेनऽईशत माघश थ्ठं सो ध्रुवाऽअस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीर्यजमानस्य पशून् पाहि।"

(यजुर्वेद 1/1)

अर्थात् विद्वान् व्यक्तियों को सदैव परमेश्वर और धर्मयुक्त पुरुषार्थ के आश्रय से ऋग्वेद पढ़कर और उसके गुणों को समझकर सभी पदार्थों के प्रयोग से, पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए अत्यन्त उत्तम कर्मों को करना चाहिए, ताकि परमेश्वर की कृपा से सभी मनुष्यों को सुख और ऐश्वर्य प्राप्त हो।

सब लोगों को चाहिए कि वे अपने सत्कर्मों द्वारा मानव-जाति की रक्षा करें और उत्तम गुणों के लिए अपने पुत्रों की शिक्षा का प्रबन्ध करें, ताकि सभी प्रकार के रोगों और प्रबल विघ्न-बाधाओं से मानव-जीवन तथा पुत्रों की रक्षा हो सके और सुख-समृद्धि प्राप्त की जा सके।

हे लोगो! आओ, हम सब मिलकर उस परमपिता परमात्मा को धन्यवाद दें, उसकी उपासना करें, जिसने हमारे लिए आश्चर्यजनक पदार्थों की रचना की है। वह ईश्वर परम दयालु है। वह अपनी कृपा से श्रेष्ठकर्मों को करते हुए हमारी सदैव रक्षा करता है।

इस प्रकार यजुर्वेद में उस परमपिता की उपासना इसलिए की जाती है कि वह हमारी रक्षा करता है, हमें सुख-समृद्धि और सौभाग्य प्रदान करता है।

मनुष्य अपनी विद्या और उत्तम क्रिया से जिस यज्ञ को करते हैं, उससे पवित्रता का प्रकाश प्राप्त होता है, पृथ्वी का राज-सुख मिलता है, वायु के रूप में प्राणवायु प्राप्त होती है, यश और सभी की रक्षा की प्रेरणा मिलती है, लोक-परलोक में सुखों की वृद्धि होती है, कुटिलता का त्याग करने का उत्साह प्राप्त होता है और हृदय में श्रेष्ठतम गुणों को ग्रहण करने की आस्था उत्पन्न होती है। अतः सभी मनुष्यों के सुख के लिए विद्या और पुरुषार्थ से प्रेमपूर्वक सदैव यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए।

परमेश्वर ने तीन प्रकार की वाणियों का उल्लेख किया है—

सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वद्यायाः।
इन्द्रस्य त्वा भाग सोमेना तनच्मि विष्णो हव्य ॐ रक्ष॥

(यजुर्वेद 1/4)

अर्थात् प्रथम वह वाणी, जो ब्रह्मचर्य के समय पूर्ण विद्याध्ययन और पूर्ण आयु की कामना के लिए बोली जाती है, दूसरी वह, जो गृहस्थाश्रम में अनेकानेक क्रियाओं तथा उद्योगों में सुख पाने के लिए बोली जाती है और तीसरी वह, जो इस संसार में सब प्राणियों के शरीर और आत्मा को सुख देने के लिए, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम में निवास करते हुए विद्वानों द्वारा ईश्वरोपासना के लिए बोली जाती है।

ऋषियों का कहना है कि इन तीन प्रकार की वाणी के बिना कैसा भी सुख प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतः इस वाणी से ईश्वर की उपासना के लिए यज्ञ करना चाहिए। धार्मिक और परोपकारी मनुष्य वे हैं, जो ईश्वर को और धर्म को जानकर 'मोक्ष' के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

जो ईश्वर सारे जगत् को धारण कर रहा है, वह पापी और दुष्ट जीवों को उनके कर्मानुसार दण्ड देता है और धर्मात्मा पुरुषों को उत्तम फल प्रदान करता है। मनुष्य को चाहिए कि वह पारस्परिक कुटिलता त्याग कर एक दूसरे से प्रीति रखे और उनके सुख-दुःख में साथ रहे। परमेश्वर 'अच्छी संगति' की शिक्षा और विद्वानों का आश्रय प्राप्त करने की प्रेरणा देता है; क्योंकि ज्ञानी व्यक्ति ही ईश्वर के सच्चिदानन्द स्वरूप को पहचान पाता है।

जो मनुष्य वेद आदि शास्त्रों द्वारा 'यज्ञकर्म' करता है, वह यज्ञ के धुएं की सुगन्ध से वायु और वृष्टि के जल में सूक्ष्म रूप से प्रवेश कर दिव्य सुखों को उत्पन्न करने वाला होता है। यज्ञ से शुद्ध किये अन्न, जल और पवन से सभी की शुद्धि होती है और उन्हें बल, पराक्रम, बुद्धि तथा दीर्घायु प्राप्त होती है। अतः मनुष्य को यज्ञकर्म नित्य करना चाहिए।

इस प्रकार यजुर्वेद के प्रथम अध्याय में, ईश्वर मनुष्यों को शुद्ध कर्मों के अनुष्ठान की प्रेरणा देता है, 'दोषों का त्याग' करने का उपदेश देता है और 'आत्म-शुद्धि' के लिए यज्ञ करने तथा परोपकार की शिक्षा देता है।

दूसरे अध्याय में, यज्ञ के साधनों का उल्लेख किया गया है। वेदी कैसी बनानी चाहिए, यज्ञ में कौन-कौन सामग्री उपयोग में लानी चाहिए, अग्नि के प्रकाश से आत्मा और इन्द्रियों की शुद्धि, सुखों का भोग, पुरुषार्थसन्धान, शत्रु-विनाश, द्वेष का त्याग, ईश्वर में प्रीति, श्रेष्ठ गुणों का विस्तार, सत्य आचरण,

प्राणिमात्र से प्रीति आदि किस प्रकार की जानी चाहिए; क्योंकि कर्म का फल निश्चित रूप से प्राप्त होता है। कर्म में सत्याचरण का विशेष महत्त्व है—

अग्ने व्रतपते व्रतमचारिषं तरशकं तन्मेऽराधीदमहं
यऽएवाऽस्मि सोऽस्मि॥

(यजुर्वेद 2/28)

अर्थात् हे सत्यस्वरूप परमेश्वर! आपने कृपा करके मेरे लिए सत्य लक्षण और प्रसिद्ध नियमों से युक्त सत्याचरण व्रत को भली प्रकार से सिद्ध किया है। मैं उस आचरण करने योग्य नियम को जिस प्रकार करने में समर्थ होऊं, वैसी प्रेरणा मुझे दीजिये। जो मैंने अधम कर्म किया है, उसी को मैं भोगता हूं। जब भी मैं जैसा कर्म करने वाला हूं, वैसा ही कर्मफल मैं भोगूंगा।

अत: धर्मयुक्त कर्म ही करने चाहिए, ताकि दु:ख की प्राप्ति न हो।

तीसरे अध्याय में, अग्निहोत्र यज्ञों का वर्णन, अग्नि के स्वभाव का, अर्थ का वर्णन, पृथ्वी के भ्रमण का लक्षण, ईश्वर के स्वभाव का प्रतिपादन, सूर्य-किरणों के कार्य का वर्णन, 'गायत्री मन्त्र' के अर्थ का विश्लेषण, गृहस्थाश्रम के आवश्यक अनुष्ठानों का वर्णन, पापों से निवृत्ति का वर्णन, 'रुद्र' रूप का 'महामृत्युञ्जय मन्त्र' द्वारा वर्णन, धर्म द्वारा आयु-ग्रहण का वर्णन आदि किया गया है।

'गायत्री मन्त्र' में जगत् को उत्पन्न करने वाले, सर्वोत्तम, सम्पूर्ण दोषों को नष्ट करने वाले, अत्यन्त शुद्ध परमेश्वर की उपासना करने की प्रेरणा दी गयी है और 'रुद्र' रूप के वर्णन में बताया गया है कि जैसे खरबूजा पक जाने पर लता से स्वयं ही छूटकर अलग हो जाता है, वैसे ही जीव पूर्ण आयु भोगकर, शरीर छोड़कर मुक्ति को प्राप्त होते हैं। यह मुक्ति रुद्र, अर्थात् भगवान् शिव की उपासना से ही प्राप्त हो सकती है; क्योंकि वे ही संहार के देवता हैं और वे ही इस भवसागर से त्राण दिलाने वाले हैं।

'यजुर्वेद' के चौथे अध्याय से दसवें अध्याय तक के अध्यायों में सोमयाग, वाजपेय एवं राजसूय नामक यज्ञों के मन्त्रों का संग्रह है।

चौथे अध्याय में 38 मन्त्र हैं। इस अध्याय में शिल्पविद्या, वर्षा की पवित्रता, विद्वानों की संगति, यज्ञ का अनुष्ठान, उत्साह की प्राप्ति, युद्ध-संचालन, यज्ञ के गुण, सत्यव्रत का धारण, अग्नि, जल के गुण, पुनर्जन्म कथन, ईश्वर-प्रार्थना, यज्ञानुष्ठान, माता-पिता और सन्तान के लक्षण, दिव्य बुद्धि की साधना, पदार्थों का क्रय-विक्रय, सूर्य-गुण, मित्रता, धर्म-प्रचार, चोरी के परिणाम आदि का वर्णन किया गया है।

पांचवें अध्याय में 43 मन्त्र हैं। इस अध्याय में यज्ञ का अनुष्ठान, उसका

स्वरूप, अग्नि द्वारा यज्ञ की सिद्धि, विद्वानों की संगति, विद्या-प्राप्ति, योगाभ्यास के लक्षण, सृष्टि की उत्पत्ति, प्राण-अपान क्रिया का निरूपण, शूरवीरों के गुण, मोक्ष की प्राप्ति, बुरी संगति से छूटने के उपाय आदि की चर्चा की गयी है।

छठे अध्याय में 38 मन्त्र हैं। इस अध्याय में राजा और राज्य के कृत्य, प्रजा और राजा के पारस्परिक सम्बन्ध, विष्णु का परमपद, गुरु-शिष्य सम्बन्ध, विद्वानों के लक्षण, यज्ञ-अनुष्ठान, ईश्वर-प्रार्थना, योद्धा का वर्णन, दोष-निवृत्ति, स्त्री-पुरुष व्यवहार, माता-पिता और सन्तानों का कर्तव्य आदि का उल्लेख किया गया है।

सातवें अध्याय में 42 मन्त्र हैं। इस अध्याय में मनुष्यों के पास्परिक व्यवहार, आत्मा के कर्म, मन और आत्मा का सम्बन्ध, सिद्ध योगी, योग के लक्षण, गुरु-शिष्य व्यवहार, स्वामी-सेवक व्यवहार, न्यायाधीश द्वारा प्रजा की रक्षा, राजपुरुष और सभासदों के कर्म, राजा का उपदेश, राजाओं के कर्तव्य, सेनापति की परीक्षा, राजा और प्रजाजन का सत्कार, राजा के कर्तव्य, सेनापति के कर्म, सैनिक का कर्तव्य, ब्रह्मचर्य-सेवन की रीति, ईश्वर और जीव आदि के पारस्परिक सम्बन्धों को दर्शाया गया है।

आठवें अध्याय में 63 मन्त्र हैं। इस अध्याय में गृहस्थ-धर्म-सेवन के लिए ब्रह्मचारिणी कन्या को ब्रह्मचारी कुमार युवक द्वारा ग्रहण करना चाहिए, गृहस्थ-धर्म का वर्णन, राजा, प्रजा, सभापति, आदि के कर्तव्यों का विशद वर्णन किया गया है।

उपयामगृहीतोऽस्यादित्येभ्यस्त्वा।
विष्णऽउरुगायैष ते सोमस्तँ्रक्षस्व मा त्वा दभन्॥

(यजुर्वेद 8/1)

अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करने वाली युवती कन्याओं को ऐसी आकांक्षा अवश्य रखनी चाहिए कि उन्हें अपने सदृश रूप, गुण, कर्म और स्वभाव में तथा ब्रह्मचर्य से युक्त विद्वान् पति मिले। वे उसकी शक्ति तथा अपनी इच्छा के अनुकूल अपने अन्तःकरण में उसके लिए प्रीति रखकर उसे स्वयंवर द्वारा वरण करें और उसकी सेवा करें। ऐसे ही ब्रह्मचर्य से युक्त युवा कुमारों को भी चाहिए कि उन्हें अपने समान ही पत्नी प्राप्त हो। गृहस्थ जीवन में परस्पर प्रीति रखते हुए वे विषय-वासनाओं में लिप्त होकर वीर्य का क्षय न करें। उत्तम सन्तानों के जन्म हेतु ही रमण करें और एक दूसरे की रक्षा करें।

नवें अध्याय में 40 मन्त्र हैं। इस अध्याय में राजधर्म का वर्णन करने वाले मन्त्र हैं।

दसवें अध्याय में 34 मन्त्र हैं। इस अध्याय में राजा-प्रजा के धर्म का वर्णन करने वाले मन्त्र हैं।

यजुर्वेद के ग्यारहवें अध्याय से अट्ठारहवें अध्याय तक होमाग्नि के लिए वेदी-निर्माण का वर्णन बहुत विस्तार के साथ किया गया है। इस प्रक्रिया को 'अग्नि-चयन' का नाम दिया जाता है। वेदी की रचना में दस हज़ार आठ सौ (10,800) ईंटे लगती हैं। इन्हें विशेष मिट्टी और आकार से बनाया जाता है। वेदी की आकृति पंख फैलाये पक्षी के समान बनाई जाती है।

ग्यारहवें अध्याय में 83 मन्त्र हैं। इस अध्याय में गृहस्थ राजा की पुरोहित सभा, सेना के अध्यक्ष और प्रजा को करने योग्य कर्मों का वर्णन किया गया है।

बारहवें अध्याय में 118 मन्त्र हैं। इस अध्याय में स्त्री, पुरुष, राजा, प्रजा, खेती और पठन-पाठन आदि के कर्मों का वर्णन है। मनुष्य को सदैव अपने मन और वाणी को नियन्त्रण में रखना चाहिए, यह भी इन मंत्रों का उपदेश है।

आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात्।
अग्ने त्वाङ्कमया गिरा॥

(यजुर्वेद 12/115)

अर्थात् अग्नि के समान हे तेजस्वी पुरुष! जिस प्रकार बछड़ा अपनी माता गौ के पास स्थिर रहता है, उसी प्रकार तुझे भी अपनी वाणी और मन पर संयम रखना चाहिए।

राजा के गुणों का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

अग्नि प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य।
सम्राडे को विराजति॥

(यजुर्वेद 12/118)

अर्थात् जो मनुष्य परमात्मा द्वारा प्रदत्त श्रेष्ठ गुणों और कर्मों तथा स्वभावों के अनुकूल गुण, कर्म और स्वभाव करता है, वही चक्रवर्ती सम्राट् बनकर राज्य भोगने के योग्य होता है।

तेरहवें अध्याय में 58 मन्त्र हैं। इस अध्याय में ईश्वर, स्त्री-पुरुष और व्यवहारकुशलता का वर्णन किया गया है।

चौदहवें अध्याय में 31 मन्त्र हैं। इस अध्याय में वसन्त आदि ऋतुओं का सौन्दर्य तथा उसके गुणों का वर्णन किया गया है।

पन्द्रहवें अध्याय में 65 मन्त्र हैं। इस अध्याय में वायु, जीवन, ईश्वर और वीर पुरुष के गुणों का वर्णन किया गया है।

सत्रहवें अध्याय में 99 मन्त्र हैं। इस अध्याय में सूर्य, मेघ, गृहस्थाश्रम और गणित विद्या की तथा ईश्वर द्वारा प्रदत्त पदार्थ विद्या की विवेचना की गयी है। विद्वानों को कैसा होना चाहिए—

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनाजिच्च सुषेणश्च।
अन्तिमित्रश्च दूरेऽअमित्रश्च गणः॥

(यजुर्वेद 17/83)

अट्ठारहवें अध्याय में 88 मन्त्र हैं। इस अध्याय में गणित विद्या, राजा-प्रजा, अध्यापक और शिष्य आदि के गुण-कर्म कहे गये हैं।

उन्नीसवें अध्याय में 95 मन्त्र हैं। इस अध्याय में सोम आदि पदार्थों के गुणों का वर्णन किया गया है।

बीसवें अध्याय में 90 मन्त्र हैं। इस अध्याय में राजा-प्रजा, धर्म के विविध अंग, प्रजापालक के गुण, अभयदान, परस्पर विचार-विमर्श और सम्मति आदि का महत्त्व, स्त्रियों के गुण एवं धन आदि पदार्थों की श्रीवृद्धि का विवेचन किया गया है।

इक्कीसवें अध्याय में 61 मन्त्र हैं। इस अध्याय में वरुण, अग्नि, विद्वान्, राजा, प्रजा, शिल्प, (कारीगरी), वाणी, घर, अश्विन (वैद्य) आदि शब्दों का अर्थ और ऋतु तथा 'होता' के गुणों का वर्णन किया गया है।

बाईसवें अध्याय में 34 मन्त्र हैं। इस अध्याय में आयु, वृद्धि, अग्नि के गुण, कर्म, यज्ञ, 'गायत्री मन्त्र' और सब पदार्थों के शोधन का वर्णन किया गया है।

तेईसवें अध्याय में 65 मन्त्र हैं। इस अध्याय में परमात्मा की महिमा, सृष्टि के गुण, योग की प्रशंसा, प्रश्नोत्तर, राजा के गुण, शास्त्रों आदि का उपदेश, पठन-पाठन, स्त्री-पुरुषों के पारस्परिक गुण, ईश्वर के गुण, यज्ञ की व्याख्या और रेखा-गणित आदि का विवेचन किया गया है—

ईश्वर के विषय में इस प्रसिद्ध मन्त्र को देखिये—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यायुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम्॥

(यजुर्वेद 23/1)

अर्थात् जब सृष्टि प्रलय को प्राप्त होकर प्रकृति में स्थिर होती है और फिर उत्पन्न होती है, उसके पहले (आगे) जो एक परमात्मा जागृत अवस्था में रहता है, तब सब जीवन अचेतन अवस्था में रहते हैं, वह कल्प के अन्त में प्रकाशरहित पृथिवी आदि सृष्टि तथा प्रकाशसहित सूर्य आदि लोकों की सृष्टि का विधान धारण करता है और जीवों को उनके कर्मों के अनुसार जन्म देकर सबके निर्वाह के लिए सब पदार्थों का विधान करता है। वही सबकी उपासना पाने योग्य देव है, सभी को यह जानना चाहिए।

इस अध्याय में माता-पिता द्वारा अपनी सन्तान के भविष्य को उत्तम बनाने की प्रेरणा भी दी गयी है—

माता च पिता च तेऽग्रं वृक्षस्य क्रीडतः।
विवक्षतऽइव ते मुखं ब्रह्मन्मा त्वं वदो बहु॥

(यजुर्वेद 23/25)

अर्थात् जो माता-पिता सुशील, धर्मात्मा, लक्ष्मीवान् तथा कुलीन हों, उनके द्वारा शिक्षित पुत्र तर्कसम्मत व अल्पभाषी होकर यश को प्राप्त करता है।

परमात्मा से उत्तम और श्रेष्ठ कोई नहीं है। हमें उसी की उपासना करनी चाहिए।

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोंऽस्तुवयं स्याम पतयो रयीणाम्॥

(यजुर्वेद 23/65)

अर्थात् परमेश्वर से उत्तम बड़ा, ऐश्वर्ययुक्त, सर्वशक्तिमान् पदार्थ कुछ भी नहीं है, उसके समान भी कोई नहीं है। जो सबकी आत्मा है, सबको रचने वाला है, समस्त ऐश्वर्य का दाता है, वही ईश्वर है। उसकी भक्ति-विशेष से और अपने पुरुषार्थ से इस लोक के ऐश्वर्य और योगाभ्यास से परलोक को प्राप्त करें।

चौबीसवें अध्याय में 40 मन्त्र हैं। इस अध्याय में पशु-पक्षी, रेंगने वाले सर्प आदि, वन्य पशु-मृग, जल में रहने वाले प्राणी और कीड़े-मकोड़े आदि के गुणों का वर्णन किया गया है। परमात्मा ही समस्त जीवों का कारण रूप है। दुःख-सुख सभी को समान रूप से होता है।

पच्चीसवें अध्याय में 48 मन्त्र हैं। इस अध्याय में संसार के पदार्थों के गुणों, का वर्णन, पशुओं का पालन, अपने शरीर के अंगों की रक्षा, ईश्वर की प्रार्थना, यज्ञ की प्रशंसा, बुद्धि और ज्ञान को बांटना, धर्म की इच्छा, अश्वों के गुणों को बताना, उसकी गति बताना, आत्मा का ज्ञान और धन-प्राप्ति का विधान बतलाया गया है।

सुख की चाह केवल अपने लिए ही नहीं, दूसरों के लिए भी करनी चाहिए—

स्वस्ति नऽइन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्योंऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

(यजुर्वेद 25/19)

अर्थात् जो बहुत सुनने वाला है, परम ऐश्वर्यवान् है, वह ईश्वर हमारे लिए उत्तम सुख को दे। जो समस्त वेदों का ज्ञाता है और जिसके ज्ञान से वह सभी को पुष्ट करता है, वह हमें भी उस सुख को प्रदान करे। जो अश्व के समान गतिशील है और उसी भांति हमें भी सुख देने वाला है, जो बृहस्पति आदि, अर्थात् ज्ञान का स्वामी है, सभी का पालनहार है, वह परमेश्वर स्वयं भी उत्तम सुखों को धारण करने वाला है, अर्थात् आनन्दस्वरूप है, वह हमें भी सुख प्रदान करे।

भाव यही है कि जिस प्रकार परमात्मा सभी को समान रूप से सुख देने वाला है, उसी भांति हमें भी अपने सुख की चाहना करनी चाहिए और जैसे हम करते हैं, उसी प्रकार हम दूसरों के सुख की कामना भी परमात्मा से करें।

छब्बीसवें अध्याय में 26 मन्त्र हैं। इस अध्याय में पुरुषार्थ का फल, सभी को वेद पढ़ने और सुनने का अधिकार, परमेश्वर की स्तुति, विद्वान् और सत्य का निरूपण, अग्नि आदि पदार्थ, यज्ञ, सुन्दर घरों को निर्मित करने का शिल्प तथा उत्तम स्थान का चयन आदि के विषय में बताया गया है।

सत्ताईसवें अध्याय में 45 मन्त्र हैं। इस अध्याय में सत्य की प्रशंसा, उत्तम गुणों को प्राप्त करना, राज्य का संवर्धन, अनिष्ट की निवृत्ति, आयुवृद्धि, मित्र का विश्वास, सर्वत्र यश का विस्तार, ऐश्वर्य की श्रीवृद्धि, अल्प मृत्यु का निवारण, शुद्धीकरण करना, सुकर्मों का अनुष्ठान, यज्ञविधान, अत्यधिक धन की प्राप्ति, स्वामी स्वभाव का प्रदर्शन, मधुर वाणी को धारण करना, सद्‌गुणों की कामना, अग्नि की प्रशंसा, विद्या और धन की अभिवृद्धि, वायु के गुण, ईश्वर के गुण, शूरवीरों के कृत्य, मित्र की रक्षा, विद्वानों का आश्रय, आत्मा का उद्‌बोधन, ब्रह्मचर्यपालन, सन्तुलित आहार-विहार आदि का वर्णन किया गया है।

अट्ठाईसवें अध्याय में 45 मन्त्र हैं। इस अध्याय में 'होता' के गुणों का, वाणी का और अश्वियों के गुणों का वर्णन किया गया है। होता के कर्तव्य, यज्ञ की व्याख्या और विद्वानों की प्रशंसा विस्तार से की गयी है।

उनतीसवें अध्याय में 60 मन्त्र हैं। इस अध्याय में अग्नि, विद्वान्, घर, प्राण-अपान, अध्यापक, उपदेशक, वाणी, अश्व, प्रशस्त पदार्थ, द्वार, रात्रि, दिन, शिल्प-शिल्पी शोभा, अस्त्र-शस्त्र, सेना, ज्ञानियों की रक्षा, सृष्टि का उपकार, विघ्ननिवारण, शत्रुसेना की पराजय, अपनी सेना की संगति और सुरक्षा, पशुओं के गुण और यज्ञों का निरूपण किया गया है।

तीसवें अध्याय में 22 मन्त्र हैं। इस अध्याय में परमेश्वर के स्वरूप और राजा का वर्णन किया गया है। ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या करते हुए 'गायत्री महामन्त्र' का उल्लेख यहां भी हुआ है और अपने दुष्कर्मों को दूर करके शुभ और शुद्ध आचरणों को प्राप्त करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना की गयी है।

इकतीसवें अध्याय में 22 मन्त्र हैं। इस अध्याय में ईश्वर, सृष्टि और राजा के गुणों का विवेचन किया गया है।

बत्तीसवें अध्याय में 16 मन्त्र हैं। इस अध्याय में परमेश्वर, विद्वान्, बुद्धि तथा धन-प्राप्ति के उपायों की व्याख्या की गई है।

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥

(यजुर्वेद 32/11)

अर्थात् सभी प्राणियों में व्याप्त, सभी लोकों में व्याप्त, सभी दिशाओं में व्याप्त, सत्य स्वरूप सभी के सम्मुख उपस्थित होने वाला परमात्मा, प्रथम कल्प के प्रारम्भ में चार वेदों का दाता है। तुम उस शुद्ध स्वरूप परमात्मा का ध्यान अपने अन्तःकरण में करो।

तैंतीसवें अध्याय में 98 मन्त्र हैं। इस अध्याय में अग्नि, प्राण, उदान (सांस), दिन-रात, सूर्य, राजा, ऐश्वर्य, उत्तम यान, विद्वान्, लक्ष्मी, वैश्वानर, ईश्वर, इन्द्र, बुद्धि, वरुण, अश्वि, अन्न, राजा-प्रजा, परीक्षक, वायु आदि के गुणों का वर्णन किया गया है।

चौंतीसवें अध्याय में 58 मन्त्र हैं। इस अध्याय में मन का लक्षण, शिक्षा, विद्या की इच्छा, विद्वानों की संगति, कन्याओं का प्रबोध, चेतनता, विद्वानों का लक्षण, रक्षा की प्रार्थना, बल तथा ऐश्वर्य की इच्छा, सोम औषधि का लक्षण, शुभ कर्मों की इच्छा, परमेश्वर और सूर्य का वर्णन, प्रातःकाल का उठना, पुरुषार्थ द्वारा ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करना, ईश्वर द्वारा जगत् की रचना, महाराजाओं का स्वरूप, अश्वि के गुण, आयु का बढ़ना, प्राणों के लक्षण और ईश्वर के कर्तव्यों का विवेचन किया गया है।

पैंतीसवें अध्याय में 22 मन्त्र हैं। इस अध्याय में व्यवहार, जीव की गति, जन्म-मरण, सत्य, आशीर्वाद, अग्नि और सत्य इच्छा आदि का वर्णन किया गया है। जीव की गति का मन्त्र दर्शनीय है—

उद्वयन्तमसस्परि स्वः पशान्त उत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्य्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥

(यजुर्वेद 35/14)

अर्थात् जैसे सूर्य को सर्व प्रकार से देखते हुए दीर्घावस्था की कामना करने वाले धर्मात्माजन सुख को प्राप्त करते हैं, वैसे ही धर्मात्मा योगीजन महादेव का ध्यान कर सबके ज्योतिर्मय स्वरूप, जन्म-मरण से पृथक् उस सच्चिदानन्द परमात्मा को साक्षात् जानकर मोक्ष को प्राप्त करते हैं और निरन्तर आनन्दित होते हैं।

छत्तीसवें अध्याय में 24 मन्त्र हैं। इस अध्याय में परमेश्वर की प्रार्थना, सभी के सुख की कामना, परस्पर मैत्री-भाव, दिनचर्या की शुद्धता, धर्म के लक्षण, परमात्मा के प्रति आस्था आदि का उल्लेख है। सभी के सुख की कामना का मन्त्र देखिये—

शं नो मित्रः शं वरुणः शं नो भवत्वर्य्यमा।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः शं नो विष्णुरुरुक्रमः॥

(यजुर्वेद 36/9)

अर्थात् जैसे हमारे लिए प्राणस्वरूप प्रिय मित्र सुखकारी हो, जल के तुल्य

शान्ति देने वाला जन सुखकारी हो, पदार्थों का स्वामी हमारे लिए सुखकारी हो, परम ऐश्वर्यवान् तथा महान् वेदवाणी का ज्ञाता एवं रक्षक विद्वान् हमारे लिए कल्याणकारी हो और संसार की रचना करने वाला परमपिता हमारे लिए सर्वसुखकारी हो, वैसे ही वह सभी प्राणियों के लिए सुखकारी हो।

प्रसिद्ध 'शान्ति मन्त्र' भी इसी अध्याय में दिया गया है। वैदिक ऋषियों ने जीवन में सर्वत्र शान्ति की कामना की है—

द्यौः शान्तिरन्तरिक्ष ꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।
वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्व ꣳ शान्तिः
शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥

(यजुर्वेद 36/17)

अर्थात् सभी प्रकाश देने वाले पदार्थ, दोनों लोकों के बीच का आकाश, पृथ्वी, जल, प्राण, सोमलता, औषधियां, विद्वान्जन, उपद्रव-विनाशक ईश्वर,. वेद तथा सम्पूर्ण वस्तुएं शान्ति और सुख देने वाली हों तथा दूसरों को भी शान्ति और सुख देने वाली हों।

यजुर्वेद संहिता में सभी को मित्रस्वरूप देखने की कामना की गयी है—

'मित्रस्याऽहं चक्षुसा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।'

(यजुर्वेद 36/12)

धर्मात्माजन वही है, जो अपनी आत्मा के समान सभी प्राणियों को मानता है, जो किसी से द्वेष नहीं करता तथा मित्र के समान सभी का सत्कार करता है।

सभी प्राणियों के प्रति मंगल की यह स्तुति हज़ारों वर्ष पूर्व मनीषियों ने की थी। फिर भारत कैसे किसी के साथ द्वेष रख सकता है? विश्व को भारतीय जनमानस में, परम्परा से स्थित इस भाव को आत्मसात करना चाहिए।

सैंतीसवें अध्याय में 21 मन्त्र हैं। इस अध्याय में ईश्वर, योगी, सूर्य, पृथ्वी, यज्ञ, सन्मार्ग, स्त्री, पति और पिता के तुल्य परमेश्वर का वर्णन किया गया है। साथ ही दिन-प्रतिदिन जीवन में किये जाने वाले आहार-विहार का अनुष्ठान भी बताया गया है।

अड़तीसवें अध्याय में 28 मन्त्र हैं। इस अध्याय में सृष्टि में व्याप्त शुभगुणों का ग्रहण, अपना और दूसरों का पोषण, यज्ञ द्वारा जगत् के पदार्थों का शोधन, सर्वत्र सुख-प्राप्ति के साधन, धर्म का अनुष्ठान, स्वस्थ शरीर की श्रीवृद्धि, ईश्वरीय गुण, बल-वृद्धि और सुख-भोग आदि का उल्लेख किया गया है।

उनतालीसवें अध्याय में 13 मन्त्र हैं। इन मन्त्रों में मनुष्य की मृत्यु के उपरान्त जिस प्रकार से 'अन्त्येष्टि कर्म' करना चाहिए, उसका वर्णन किया गया है। मृत

शरीर जब तक पूर्ण रूप से भस्म न हो जाये, तब तक उसमें घी और लकड़ियां डालते रहना चाहिए। जीवन-मरण प्रकृति का खेल है। मृत्यु के उपरान्त प्राण दूसरी देह प्राप्त कर लेता है। इसलिए शोक नहीं करना चाहिए।

चालीसवें अध्याय में 18 मन्त्र हैं। इस अध्याय में ईश्वर के गुणों का वर्णन, अधर्म का त्याग, सत्कर्मों का महत्त्व, अधर्माचरण की निन्दा, परमेश्वर का सूक्ष्म रूप, विद्वान् और मूर्ख को समझना, अहिंसा को जानना, मोह-शोक आदि का त्याग, ईश्वर को जन्मादि दोषों से दूर मानना, वेद-विद्या का उपदेश, नश्वर जगत् को जड़रूप समझना, मोक्ष की सिद्धि, चैतन्य शक्ति की उपासना, जड़-चेतन को समझना, शरीर के स्वभाव को जानना, समाधि से परमेश्वर को पाना, आत्मा का शरीर-त्याग, शरीर-दाह के उपरान्त अन्य क्रियाओं के अनुष्ठान का निषेध, अधर्म का त्याग, धर्म के लिए परमात्मा की स्तुति, 'ओ३म्' की महत्ता का प्रतिपादन आदि का वर्णन किया है।

कर्म के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए मनुष्य को सौ वर्ष तक जीने की कामना करनी चाहिए। देखिए—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ꣳ समाः।
एवं त्वायि ना न्यचेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

(यजुर्वेद 40/2)

अर्थात् इस संसार में धर्मयुक्त निष्काम कर्मों को करते हुए सौ वर्ष तक जीवन की इच्छा करनी चाहिए। इस प्रकार जो धर्मयुक्त कर्मों में लगा रहता है, वह अधर्म-युक्त कर्मों में अपने को नहीं लगाता।

समस्त प्राणियों में परमात्मा का अंश देखने वाला व्यक्ति कभी संशय में नहीं पड़ता—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति॥

(यजुर्वेद 40/6)

अर्थात् जो विद्वान् परमात्मा के भीतर ही सम्पूर्ण प्राणियों, अप्राणियों (जड़-चेतन) को जानते हैं और जो सम्पूर्ण प्रकृति में परमात्मा का ही अंश देखते हैं, उन विद्वानों को कभी भ्रम अथवा संशय नहीं होता। ऐसे व्यक्ति ही 'मोक्ष' प्राप्त करने वाले होते हैं। 'ओ३म' आकाश के तुल्य अनन्त और व्यापक है।

कृष्ण यजुर्वेद की विषयवस्तु

'कृष्ण यजुर्वेद' की चार शाखाएं—'तैत्तिरीय,' 'मैत्रायणी,' 'काठक' और 'कपिष्ठलकठ' उपलब्ध होती हैं। इनमें तैत्तिरीय शाखा पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। इस

संहिता में सात काण्ड हैं, जो 631 अनुवाकों में बंटे हैं। 'शुक्ल यजुर्वेद' की भांति इस संहिता का मुख्य विषय भी 'कर्मकाण्ड' ही है।

पहले काण्ड में 'दर्श' (अमावस्या) और पूर्णमास (पूर्णिमा) के यज्ञों का वर्णन है। अग्निष्टोम, वाजपेय और राजसूय यज्ञों के मन्त्रों का संकलन और इनकी विधि बताई गयी है।

दूसरे काण्ड में पशु-विधान का वर्णन है। यह पशु-विधान विभिन्न उद्देश्यों के लिए किया जाता है। सन्तति, विजय, शौर्य आदि की कामनाएं की गयी हैं। इसके अतिरिक्त अन्न-विधान, भूति, ब्रह्मवर्चस, ग्राम, शत्रु-विजय, उन्नति तथा स्वर्ग आदि की इच्छाएं अभिव्यक्त की गयी हैं।

तीसरे काण्ड में सोमयाग का विस्तृत वर्णन है। इस काण्ड में जय-विजय और राष्ट्रकार्य से सम्बन्धित मन्त्र है।

चौथे काण्ड में वेदों के बारे में चर्चा है। वेद कैसे बने और यज्ञ में अग्नि का महत्त्व क्या है और अग्निचयन कैसे किया जाये, इसका उल्लेख है। 'अश्वमेध यज्ञ' का विधान और इसकी प्रारम्भिक क्रियाओं का सांगोपांग वर्णन है।

पांचवें काण्ड में यज्ञ-वेदी की मिट्टी से प्रारम्भ होकर 'अश्वमेध यज्ञ' की विस्तृत व्यवस्था की गयी है।

छठे काण्ड में यजमान की दीक्षा, यज्ञभूमि का चयन, विभिन्न यज्ञपात्रों तथा दक्षिणा आदि का उल्लेख है। इन्हें कैसे करना चाहिए, यह भी बताया गया है।

सातवें काण्ड में 'ज्योतिष्टोम' होम और अश्वमेध यज्ञ की क्रियाओं का विस्तृत वर्णन है।

यजुर्वेद के सम्बन्ध में एक प्रसंग अत्यन्त प्रचलित है—महर्षि याज्ञवल्क्य ने अपने मामा वैशम्पायन से यजुर्वेद की शिक्षा ली थी। बाद में किसी कारणवश गुरु-शिष्य में मन-मुटाव हो गया, तो गुरु ने अपनी दी हुई शिक्षा अपने शिष्य से वापस मांगी। इस पर शिष्य ने वह सारा ज्ञान वमन कर दिया। तब गुरु की आज्ञा से अन्य शिष्यों ने तीतर बनकर उस वमन को खा लिया। इसी कारण यजुर्वेद कृष्ण शाखा का नाम 'तैत्तरीय' पड़ गया।

यह प्रसंग बड़ा घृणास्पद और अटपटा-सा लगता है। 'तैत्तरीय संहिता' तीतरों के खाने से नहीं, कृष्ण यजुर्वेद शाखा के प्रवर्तक ऋषि के ज्ञान का फल भी हो सकती है। यह उचित भी लगता है। बुद्धि की मलिनता के कारण यजु मन्त्रों का काला पड़ जाना भी गले नहीं उतरता। ये मन्त्र निश्चित रूप से कृष्ण पक्ष में लिखे गये होंगे और शुक्ल पक्ष में 'शुक्ल यजुर्वेद' के मन्त्र लिखे गये होंगे।

यजुर्वेद का महत्त्व

प्रतिपाद्य विषय की दृष्टि से 'शुक्ल यजुर्वेद' के मन्त्रों की प्रधानता है।

यजुर्वेद में 'वैदिक कर्मकाण्ड' का विस्तृत विवेचन किया गया है। वैदिक कर्मकाण्ड

का पूरा इतिहास उसमें सिमटा हुआ है। जीव के गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि संस्कार तक के सभी कर्मकाण्ड यजुर्वेद में समाहित हैं।

'यज्ञ' की दृष्टि से यजुर्वेद अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इसमें यज्ञ से सम्बन्धित सम्पूर्ण विधि-विधान विस्तार के साथ बताये गये हैं। सभी क्रियाओं का उल्लेख सविस्तार किया गया है। हमारी परम्पराएं, धार्मिक क्रियाएं तथा सभी सामाजिक अनुष्ठानों की व्याख्या पूरी रीति-नीति के साथ यजुर्वेद में बताई गयी हैं।

यहां यज्ञ के विविध प्रकारों का उल्लेख, मनुष्य के हित को सामने रखकर किया गया है। यथा 'अश्वमेध,' 'नरमेध,' 'सर्वमेध' आदि यहां 'मेध' का तात्पर्य 'हित' से है, न कि 'बलि' से।

'शुक्ल यजुर्वेद' में जहां मन्त्र पद्यात्मक शैली में हैं, वहां 'कृष्ण यजुर्वेद' में मन्त्रों को गद्यात्मक शैली में लिखा गया है। जैसे 'इन्द्राय स्वाहा' या 'अग्नये स्वाहा'। ये मन्त्र अत्यन्त सरल हैं।

यजुर्वेद के देवता

कर्मकाण्डी परम्पराओं के अनुसार यजुर्वेद में देवगणों का स्वरूप ऋग्वेद के देवताओं से अलग है। जैसे ऋग्वेद में 'प्रजापति,' 'रुद्र,' 'विष्णु' आदि देवताओं का इतना महत्त्व नहीं है, जितना यजुर्वेद में है। ऋग्वेद के 'रुद्र' को यहां 'शिव,' 'शंकर,' 'महादेव' आदि नामों से पुकारा ज़ाने लगा। 'शिव' कल्याण का देवता है। 'शंकर' जलाशय का देवता है और महादेव तो सभी देवताओं में उत्तम और शक्तिशाली हैं। तभी उन्हें देवाधिदेव महादेव के नाम से पुकारा जाता है। इसी प्रकार 'विष्णु' का महत्त्व भी यहां अधिक हो गया। उसे यहां यज्ञ का 'हविष्य' दिया ज़ाने लगा है।

ऋग्वेद में 'असुर' को शक्तिशाली देव माना जाता है, परन्तु यजुर्वेद तक आते-जाते वह दुरात्मा राक्षस के रूप में परिवर्तित हो गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद में 'नागपूजा' कहीं नहीं है, किन्तु यजुर्वेद में नाग भी देवता बन गया है। वहां यज्ञ देवता के अनुग्रह के लिए किया जाता था, परन्तु यजुर्वेद में यज्ञ का स्थान ही सर्वोपरि हो गया है।

यजुर्वेद में ईश्वरीय शक्ति को अलग-अलग समय पर अलग-अलग नामों से पुकारा जाने लगा था, जबकि ऋग्वेद में एक ही सत्य को विविध नामों से पुकारा जाता था। यहां कुछ विशिष्ट देवता अधिकाधिक विशेषणों और नामों से पुकारे जाने लगे हैं, जैसे 'शिव सहस्रनाम,' 'विष्णु सहस्रनाम' आदि द्वारा उनके नामों का स्तुतिगान किया जाने लगा था।

यजुर्वेद में जिन देवताओं की स्तुति की जाती है, उनके प्रार्थना मन्त्र सरल हैं। यहां देवता का नाम लेना पर्याप्त है और उसके नाम के साथ ही आहुति दी जाती है।

यजुर्वेद में मनोवैज्ञानिक तत्त्वों का विवेचन सरलता से किया गया है। जीवन का उदात्त पक्ष यहां सुन्दरता से चित्रित किया गया है। मित्र के प्रति 'प्रेम,' 'विश्व-बन्धुत्व' की भावना तथा सभी के प्रति 'परोपकार' की कामना का उल्लेख यहां पर पूरी उदारता के साथ किया गया है।

यहां जीवन को कर्मक्षेत्र मानकर 'सौ वर्ष तक जीने की इच्छा' की गयी है और समस्त विघ्न-बाधाओं में सुख तथा शान्ति को मांगा गया है। शान्ति ही मानो उनका लक्ष्य था।

'यजुर्वेद' का एक महत्त्वपूर्ण मन्त्र है—

पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया।
पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूजां पते पाहि चतसृभिर्वसो॥

(यजुर्वेद 27/43)

अर्थात् हे अग्ने! ऋक्, यजु, साम व अथर्व चार लक्षणों वाली चारों वाणियों से हमारी रक्षा करो।

वेद ज्ञान के पर्याय हैं। ज्ञान के चार भेद हैं—ऋक्, यजु, साम और अथर्व।

'ऋक्' के लक्षण हैं—कल्याण, प्रभु-प्राप्ति, ईश्वर-दर्शन, आत्मशान्ति, धर्म-भावना, कर्तव्यपालन, प्रेम, तप, दया, उपकार, उदारता व सेवा करना आदि।

'यजु' के लक्षण हैं—पराक्रम, पुरुषार्थ, साहस, वीरता, रक्षा, नेतृत्व, यश, प्रतिष्ठा व विजय आदि।

'साम' के लक्षण हैं—ललित कलाएं, क्रीड़ा, मनोविनोद, मनोरंजन, साहित्य-संगीत, कला, स्पर्श-सुख, इन्द्रियों के स्थूल भोग, चिन्तन व गतिशीलता आदि।

'अथर्व' के लक्षण हैं—धन-वैभव, वस्तुओं का संग्रह, भोग के साधन, गृहोपयोगी वस्तुएं संगृहीत करना आदि।

कल्याण, पुरुषार्थ, क्रीड़ा और स्थिरतारूपी चारों लक्षणों से ज्ञान की धारा प्रवाहित होती है। इससे सिंचित करके हमें अपने जीवन को सुखमय बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। ये चारों ऋक्, यजु, साम व अथर्व क्रमशः धर्म, मोक्ष, काम और अर्थ के प्रतीक हैं। मनुष्य का कल्याण इनमें निहित है तथा इन्हें प्राप्त करना ही उसका लक्ष्य है।

□□

ओ३म्

(हे सर्व रक्षक परमात्मा!)

ओ३म् है जीवन हमारा ओ३म् प्राणाधार है।
ओ३म् है कर्त्ता विधाता, ओ३म् पालनहार है॥
ओ३म् है दुःख का विनाशक, ओ३म् सर्वानन्द है।
ओ३म् है बल तेजधारी, ओ३म् करुणानन्द है॥
ओ३म् सबका पूज्य है, हम ओ३म् का पूजन करें।
ओ३म् ही के ध्यान से हम, शुद्ध अपना मन करें॥
ओ३म् के गुरु मन्त्र से, बुद्धि को नित-नित संवारे।
ओ३म् के ही जाप से, दुर्गम पथों को हम संवारे॥
ओ३म् के वर्चस्व से, ज्ञान बढ़ता जाएगा।
ओ३म् के संसर्ग से, मोक्ष मिलता जाएगा॥
ओ३म् है जीवन हमारा, ओ३म् प्राणाधार है।
ओ३म् है कर्त्ता विधाता, ओ३म् पालनहार है॥

सामवेद
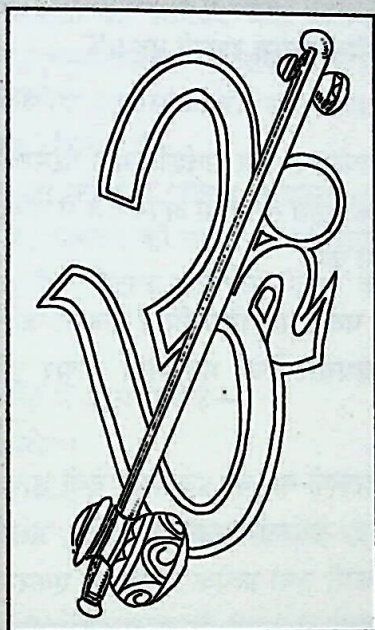
"सामवेद में प्रायः ऋग्वेद के ही मन्त्रों का संग्रह है, परन्तु इन्हें यहां गेयता प्रदान की गयी है। यहां मन्त्रों द्वारा स्तुति को मधुर स्वरों में गाया जाता है। ऋचाओं का यह गायन रस ही 'साम' है। भटके हुए मन को सामगान से शान्ति मिलती है। वास्तव में सामवेद उपासना का वेद है। इस उपासना से 'ज्ञान' और 'कर्म' का समन्वय किया जाता है। 'इष्ट', 'उपासक' और 'द्रष्टा' का समन्वय होता है। यह समन्वय संगीत द्वारा ही सम्भव है।"

सामवेद के महत्त्वपूर्ण मन्त्र

"श्रुष्ट्याग्ने नवस्य मे स्तोमस्य वीर विश्पते।
नि मायिनस्तपसा रक्षसो दह॥"

—(*सामवेद 1/10/10*)

अर्थ—हे सर्वरक्षक और सर्वशक्तिमान परमेश्वर! तू मेरे नवीन स्तोत्र (स्तुति) को शीघ्र सुन तथा अपने तेज से मायावी लोगों के बुरे विचारों को भस्म कर।

"ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं पिता देवानां जनिता विभूवसुः।
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्यं मदन्तिमो मत्सर इन्द्रियो रसः॥"

—(*सामवेद 7/1*)

अर्थ—संसाररूपी यक्ष का प्रकाशक, देवों का रक्षक, उत्पादक, महान् ऐश्वर्ययुक्त, अत्यन्त आनन्द का दाता, प्रसन्नता देने वाला, आत्मा का हितकारी तथा प्रत्येक स्थिति में एकरस परमात्मा प्रिय ज्ञान की वर्षा करता है। वही अन्तरिक्ष और पृथिवीलोक में छिपे नाना प्रकार के धनों को धारण करने वाला है। हम उसी परमात्मा की उपासना करते हैं।

भाव यही है कि परमात्मा सच्चिदानन्दस्वरूप है। वही सारे ब्रह्माण्ड का नियन्ता है और वही समान भाव से कर्मानुसार सभी को सुख-सम्पत्ति और ऐश्वर्य प्रदान करता है। हमें उसी परमात्मा की उपासना करनी चाहिए।
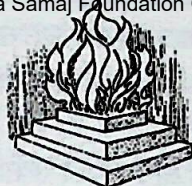
सामवेद

वेद के गेय मन्त्रों के संग्रह को 'सामवेद' कहा जाता है। ये स्तुति-मन्त्र मधुर स्वरों में गाये जाते हैं। मधुर वाणी का रस इन ऋचाओं के द्वारा ईश्वर की उपासना में निःसृत होता है। ऋचाओं के इस रस को ही 'साम' कहा जाता है। सामगान से 'भटके हुए मन को शान्ति' मिलती है।

सामगान में मधुर स्वर को ऊंचे आलाप से प्रारम्भ करके धीरे-धीरे निचले आलाप पर लाया जाता है। सामवेद की महत्ता का प्रतिपादन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता (10/22) में किया है—'**वेदानां सामवेदोऽस्मि।**' वेदों में सामवेद मैं हूं।

वर्गीकरण

सामवेद को दो भागों में बांटा गया है—

1. पूर्वार्चिक सामवेद।

2. उत्तरार्चिक सामवेद।

इन दोनों के मध्य में 'महानाम्न्यार्चिक' सामवेद भी माना जाता है, जिसमें 10 मन्त्र हैं।

'**पूर्वार्चिक सामवेद**' में चार काण्ड हैं—आग्नेय, ऐन्द्र, पावमान और आरण्य।

'आग्नेय काण्ड' में 114 मन्त्र हैं। 'ऐन्द्र' काण्ड में 352 मन्त्र हैं। 'पावमान' काण्ड में 119 मन्त्र हैं। 'आरण्य' काण्ड में 55 मन्त्र हैं और 'महानाम्न्यार्चिक' (मध्यवर्ती) काण्ड में 10 मन्त्र हैं। इस प्रकार इन सभी काण्डों में कुल 650 मन्त्र हैं।

'**उत्तरार्चिक सामवेद**' में 21 अध्याय हैं, जिनमें 1,225 मन्त्र हैं।

सामवेद की पूर्ण मन्त्र संख्या 1,875 है।

कुछ विद्वानों का कहना है कि सामवेद की गायन व पाठ शैली के कारण एक सहस्र शाखाएं थीं, जो धीरे-धीरे सामगान न होने के कारण विलुप्त होती चली गयीं। अब केवल तीन शाखाएं 'राणायणी,' 'कौथुमी' और 'जैमिनीय' ही उपलब्ध हैं।

सामवेद के कुछ मन्त्रों को छोड़कर शेष सभी मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। सामवेद के सभी मन्त्र गाये जाने वाले हैं। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए यज्ञ किया जाता है, उसकी स्तुति के लिए उचित और शुद्ध गेय स्वरों में उस देवता का आह्वान

किया जाता है। सामगान में संगीत के सप्त स्वरों का प्रयोग किया जाता है। श्रोता सामगान का रसास्वादन श्रवण मात्र से ही कर सकता है। भारतीय संगीत की उत्पत्ति की दृष्टि से 'सामवेद' का विशेष महत्त्व है। इसे साधना द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है।

कुछ विद्वानों का मत है कि सामवेद का सर्वप्रथम साक्षात्कार आदित्य ऋषि के द्वारा किया गया था। सामवेद में 'वेदत्रयी' का प्रमुख स्थान है। वेदत्रयी का अर्थ—'पद्य,' 'गद्य' और गायन है। 'मनुस्मृति' में सामवेद का सम्बन्ध सूर्य से बताया गया है। सूर्य प्रकृति के मध्य सबसे अधिक तेजस्वी और आकृष्ट करने वाला 'ग्रह' है। इसे 'ऋग्वेद' में प्रत्यक्ष देवता के रूप में स्थान प्राप्त है। सभी ऋषियों ने इस प्रत्यक्ष देवता की स्तुति में सस्वर गान किया है, इस कल्पना से मुंह नहीं मोड़ा जा सकता। इसलिए सूर्य से सामवेद का साम्य स्थापित किया जाता रहा है।

कुछ पूर्वपक्षीय विद्वान् यह शंका भी उठाते हैं कि 'सामवेद' कोई पृथक् वेद नहीं है। यदि इस प्रकार का कोई वेद मान भी लिया जाये, तो उसमें कुल 62 या 85 मन्त्रों का ही संग्रह है। शेष मन्त्र वे ही हैं, जो ऋग्वेद में संगृहीत हैं, परन्तु इस धारणा को सर्वथा निर्मूल माना जाता है। सामवेद में 1,875 मन्त्रों का ही संकलन हैं।

'सामवेद' के मन्त्रों का प्रारम्भ 'अग्न आयाहि वीतये' से और अन्त 'स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः' से होता है। वेद में किसी प्रकार की पुनरुक्ति नहीं है। सर्वत्र प्रभु द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही दिया गया है, जो ऋषियों की वाणी से हम तक पहुंचा है।

'सामवेद' उपासना काण्ड है। इसमें जिस उपासना का उल्लेख है, वह 'ज्ञान' और 'कर्म' का समन्वय है। इसमें 'इष्ट,' 'उपासक' और 'द्रष्टा' का समन्वय है। यह समन्वय परिशीलन, आचरण और उपासना के मध्य स्थित है। यही समन्वय 'जीव,' 'जगत्' और 'परमात्मा' के मध्य संगीतबद्ध होकर उभरता है। साम वस्तुतः इसी समन्वय का नाम है।

आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री ने 'साम' को एक बहुत ही व्यावहारिक उदाहरण द्वारा समझाया है। उनका कहना है कि विवाह संस्कार के अवसर पर जब वर-वधू प्रतिज्ञा के मन्त्र बोलते हैं, तब वर वधू से कहता है—"हे वधू! मैं 'अम' हूं और तू 'सा' है।" अतः दोनों का सम्बन्ध 'साम' है। तू ऋक् है और मैं साम हूं। मैं द्युलोक हूं और तू पृथिवी है। इन दोनों का सम्मिलन ही साम है।

अर्थात् चराचर विश्व में समन्वय ईश्वर की महती महिमा का परिचायक है। उपासक इसको अपनी उपासना में अभिव्यक्त कर ईश्वर को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः 'साम' वह विद्या है, जिसमें विश्व-संगीत हो, विश्व-समन्वय हो या जीव-प्रकृति की क्रीड़ा और परमात्मा का समन्वय हो।

कुछ विद्वान 'साम' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार मानते हैं—सा+अम=साम। इसका अर्थ हुआ 'ऋचा' और 'अम' मिलकर आलाप के द्वारा मन्त्रों का किया गया गान। इस प्रकार 'गान' सामवेद का प्राणतत्त्व है। 'यज्ञ' में उद्गाता नामक पुरोहित सामगान करता है। 'उद्गाता' शब्द में ही गान का भाव निहित है।

जैमिनी मीमांसा सूत्र में 'साम' का अर्थ गीत कहा है—'गीतिषु सामाख्या' (2/1/36)। ऋचा और साम के सम्बन्ध को छान्दोग्योपनिषद् में स्पष्ट किया गया है—'या ऋकतत्साम' (1/3/4), अर्थात् ऋचाओं को ही साम कहते हैं। भाव यही है कि ऋचाओं के आधार पर किया गया गान ही 'साम' है।

'साम' शान्ति प्रदान करने वाले मन्त्रगान हैं। परमात्मा की भक्ति में साधक जब एकाग्रचित होकर मन्त्रगान करता है, तब उसे अनिर्वचनीय शान्ति प्राप्त होती है।

सामवेद में संगीत का महत्त्व

सामवेद मधुर रस का भण्डार है। वेदों में 'ओ३म्' का महत्त्व सर्वोपरि है। यह मनुष्य को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करता है। 'ओ३म्' के आलाप लेने से मानसिक तनाव समाप्त हो जाते हैं। 'ओ३म्' प्रणव है, उद्गीथ है। साम का रस ही यह उद्गीथ है।

भारतीय संस्कृति का चरम ब्रह्म से साक्षात्कार का है। विधिपूर्वक सामगान करने वाला व्यक्ति ही 'ब्रह्म' के निकट पहुंच जाता है। इस 'सामगान' के लिए अभ्यास और साधना की आवश्यकता होती है। शुद्ध उच्चारण में मन की संगीतमयी संगति जब हो जाती है, तब परमात्मा के सच्चिदानन्द स्वरूप की अनुभूति होने लगती है।

यज्ञ की पूर्णता सामगान के शुद्ध उच्चारण की संगीतमय अभिव्यक्ति पर ही निर्भर करती है। देवगण उद्गाता द्वारा गाये साम-मन्त्रों से प्रसन्न होते हैं और उपासक के हृदय में प्रसन्नता के अनन्त भाव भर देते हैं।

'मीमांसा भाष्य' में शवर ऋषि ने लिखा है—'**सामवेदे सहस्रं गीतेरुपायाः**' अर्थात् वेद गाने के सहस्र ढंग हैं। इससे साम मन्त्रों की उपादेयता का पता चलता है और उस कथन का विरोध हो जाता है, जिसमें सामवेद को सहस्र भागों वाला कहा गया है। यहां आशय गायन के ढंग से है, न कि उसके भागों से। गायन के विविध ढंगों का प्रमाण इस तथ्य से भी प्रकट हाता है कि प्रकृति के कण-कण में संगीत के स्वर विद्यमान हैं। हवा की सांय-सांय में, पत्तों की खड़खड़ाहट में, झरनों के बहने में, ओसकणों के ढुलकने में, सागर की उछलती लहरों में, बादलों के घुमड़ने में, पक्षियों की कूक में, गायों के रंभाने में, चिड़ियों की चहचहाहट में, बिजली की कड़क में, हिमशिखरों पर पिघलती बर्फ़ में, नदियों के वेग में, सभी में

संगीत की स्वर लहरियां बिखरी हैं। संगीत के सात स्वरों की पहचान भी इस प्रकृति के मध्य से ही पहचानी गयी होगी। संगीत की स्वरलहरियों में वंशी की मधुर तान है, तो कल-कल करती नदियों का जलतरंग है। यह ऐसी सार्वभौम स्वर रचना है, जो अपने स्वरों में प्रस्फुटित होती है। इन स्वरों के उदात्त स्वर ही सामवेद के मन्त्रों में अभिव्यक्त होते हैं। संगीत के मूल स्वरों को ढूंढने के लिए 'सामवेद' के मन्त्रों को ही स्वरबद्ध करना होगा। सामवेद का संगीत जीवन और प्रकृति से जुड़ा है। इसकी उपादेयता असंदिग्ध है।

संगीत जीवन को उस भावभूमि पर ले जाने वाला मार्ग है, जहां आनन्द ही आनन्द है। जब ईश्वर संगीत को अथवा गायन को स्वीकार कर लेता है, तब वह स्तुति बन जाता है। सामवेद में गायन द्वारा इसी 'स्तुति' का चित्रण हुआ है।

उदात्त स्वरों का व्यवहार सामवेद में निराले ढंग से हुआ है। 'नारदीय शिक्षा' में कहा गया है—

अथातः स्वरशास्त्राणां सर्वेषां वेदनिश्चयम्।
उच्चनीचविशेषाद्धि स्वरान्यत्वं प्रवर्त्तते॥

(नारदीय शिक्षा सूत्र 1/1)

अर्थात् अब सब स्वरशास्त्रों का वर्णन वेद निश्चय ही करते हैं; क्योंकि ऊंचे और नीचे के विशेष स्वर-भेद में यह लक्षित होता है।

नारदीय शिक्षा में गान-विद्या के 8 स्वरों का उल्लेख किया गया है— 'षड्ज', 'ऋषभ,' 'गान्धार,' 'मध्यम,' 'पंचम,' 'धैवत' और 'निषाद'।

उदात्त स्वरों में निषाद और गान्धार स्वर आते हैं, अनुदात्त स्वरों में ऋषभ और धैवत तथा स्वरित में षड्ज, मध्यम और पंचम स्वर आते हैं।

उदात्ते निषादगान्धारावनुदात्तऋषभधैवतौ।
स्वरितप्रभवा ह्येते षड्जमध्यमपंचमा॥

(नारदीय शिक्षा सूत्र 2/2)

सामवेद में इन स्वरों के लिए विशेष संज्ञाओं का प्रयोग किया जाता है— '1 प्रथम, 2 द्वितीय, 3 तृतीय, 4 चतुर्थ, 5 मन्द्र, 6 क्रुष्ट और 7 अतिस्वार। इन्हें साम- मन्त्रों का पाठ करने वाले उच्चरित करते हैं।'

मध्यम स्वरों में इन नामों का विशेष महत्त्व है। साम उद्गाता का प्रथम स्वर ही वेणु का 'मध्यम' है, द्वितीय स्वर 'गान्धार' है, तृतीय स्वर 'ऋषभ' है, चतुर्थ स्वर 'षड्ज' है, पंचम स्वर 'धैवत' है, छठा स्वर 'निषाद' है और सप्तम स्वर का नाम 'पंचम' है।

इस प्रकार साम-मन्त्रों के गायन में उतार-चढ़ाव का ध्यान इन स्वरों के माध्यम से रखना चाहिए—

1 मध्यम, 2 गान्धार, 3 ऋषभ, 4 षड्ज, 5 मन्द्र या धैवत, 6 क्रुष्ट या निषाद और 7 पंचम या अतिस्वार।

षड्ज स्वर—नासिका, कण्ठ, उरः (छाती, फेफड़े), तालु, जिह्वा और दन्त इन छः स्थानों से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए इन्हें 'षड्ज' कहा जाता है।

ऋषभ स्वर—नाभि से उठने वाला वायु कण्ठ और शीर्ष से टकराकर जब बैल की भांति नांदता है, तो उसे 'ऋषभ स्वर' कहते हैं।

गान्धार स्वर—नाभि से उठा वायु कण्ठ और शीर्ष से टकराता हुआ नासिका में पवित्र गन्ध लाता है, तब उसे 'गान्धार' स्वर कहते हैं।

मध्यम स्वर—नाभि से उठा वायु उरः, हृदय, कण्ठ और शीर्ष से टकराकर ध्वनि के रूप में उत्पन्न होता है, तो इसे पंचम स्वर कहते हैं।

धैवत स्वर—इन पूर्व में उठे हुए स्वरों को जब अतिसन्धान किया जाता है, तब उसे 'धैवत स्वर' कहते हैं।

निषाद स्वर—जिस कारण समस्त स्वर बैठ जाते हैं या धूमिल पड़ जाते हैं, या दब जाते हैं, तब उसे 'निषाद स्वर' माना जाता है।

सामगान की शिक्षा के लिए 'नारदीय शिक्षा' और 'रागाविरोध' ग्रन्थों का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

सामगान के उपख्यानस्वरूप आठ ब्राह्मण ग्रन्थों का उल्लेख भी मिलता है। ये ब्राह्मण ग्रन्थ हैं—

1. प्रौढ़ या ताण्ड्य महाब्राह्मण, 2. षड्विष, 3. साम विधान, 4. आर्षेय, 5. देवताध्याय, 6. उपनिषद्, 7. संहितोपनिषद् या मन्त्र ब्राह्मण, 8. वंश।

उपरोक्त ब्राह्मण ग्रन्थों में से चौथा और पांचवां सामवेद के ऋषियों, देवताओं और छन्दों का वर्णन करता है। 'मन्त्र ब्राह्मण' में सभी मन्त्र संस्कारों से सम्बन्धित हैं। 'वंश' में ब्रह्मा से प्रारम्भ करके सभी सामगों (साम-मन्त्रों को गाने वाले उद्गाता) की वंशावली दी गयी है। अन्य में प्रयोग तो किये गये हैं, परन्तु सामवेद के अक्षरों की व्याख्या नहीं की गयी है।

'नारदीय शिक्षा' में संगीत शास्त्र का जैसा विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है, वैसा बहुत कम देखने में आता है। वह संगीत शास्त्र का आधार है। 'सामवेद' के भाष्यकार मेरठ निवासी स्व. पण्डित तुलसीराम स्वामी ने अपने भाष्य में इसका अत्यन्त सुन्दर विवेचन किया है।

सामवेद की विषयवस्तु

सामवेद की विषयवस्तु ऋग्वेद की ऋचाओं की भांति स्तुतिपरक है। अन्तर मात्र इतना है कि यहां मन्त्रों के गायन पक्ष पर विशेष महत्त्व दिया गया है। ये

स्तुतियां अग्नि, इन्द्र, सूर्य आदि देवताओं को अर्पित की गयी हैं। इन्हें काव्यात्मक
गीतों के रूप में गाया जाता रहा है। यज्ञीय, दार्शनिक, धर्म तथा दान आदि स्तुतियों का बार-बार गायन किया गया है।

सामवेद के 'पूर्वाचिक,' 'उत्तरार्चिक' और 'महानाम्न्यार्चिक' काण्डों का यहां विवेचन किया जा रहा है—

सामवेद के पूर्वार्चिक काण्ड

प्रथम अध्याय

सामवेद के 'पूर्वार्चिक काण्ड' में 'अग्नि,' 'इन्द्र,' 'ज्ञान,' 'अन्न,' 'ईश्वर,' 'सूर्य,' 'अश्विन,' 'चन्द्र,' व 'सोम' आदि देवताओं की स्तुति की गयी है।

सर्वप्रथम 'अग्नि' की उपासना की गयी है। अग्नि उस प्रकाशवान् परमात्मा का स्वरूप है। अतः उसी की स्तुति पर विशेष बल दिया गया है। उसे मित्र और अतिथि के समान माना है—

प्रेष्ठं वो अतिथि थं स्तुषे मित्रमिव प्रियम्।
अग्ने रथं न वेद्यम्॥

(साम. 5)

अर्थात् हे मनुष्य! मित्र के समान हितसाधक, अतिप्रिय, निरन्तर व्यापक, जानने योग्य, हृदयरूपी वेदी में ध्यान करने योग्य, रथ के समान सब के वाहक, अग्नि के समान प्रकाशवान् ईश्वर की तू स्तुति कर।

साम के लक्षण के लिए शास्त्रकारों ने कहा है—'**गीतिषु सामाख्या,**' अर्थात् ऋचाएं ही भक्तों के भावावेश को उभारकर गीतरूप में बाहर लाती हैं। उन्हें ही 'साम' कहा जाता है। संगीत और उपासना का गहरा सम्बन्ध है। गीत के अभाव में स्तुति प्राणविहीन शरीर के समान होती है। जब उसमें रस का संचार नहीं होगा, तो उपासना में 'रस' अथवा 'भाव' कहां से आयेगा?

जब हृदय का उल्लास उमंग बनकर व उभरकर बाहर आता है, तब उसे 'गीत' कहते हैं। इस मन्त्र में पहली बात यही है कि तेरे जीवन की सार्थकता इसी में है कि तू 'स्तुति के गीत गा।' मन्त्र में दूसरी बात मित्र के समान 'हितसाधना' की है। मित्र वही है, जो अपने मित्र को दोषमुक्त होने की प्रेरणा दे और परोपकार के कार्यों के प्रति उसे प्रेरित करे। मित्र के दोषों को छिपाये और उसके गुणों का वर्णन समाज के सामने करे तथा विपत्ति में घिरे मित्र की सहायता करे। उसे आर्थिक, शारीरिक और सामाजिक सहयोग प्रदान करे।

प्रभु से प्रेम का सम्बन्ध सदैव के लिए होना चाहिए। उससे प्रेम का आधार धर्माचरण पर आधारित होता है। हमारे शास्त्रकारों ने '**अतिथि देवो भवः**' कहकर

अतिथि को देवता के समान माना है। जो कहीं भी, कैसे भी आपके सम्मुख आ खड़ा हो, उसे अतिथि कहते हैं। उसमें कोई निश्चित तिथि नहीं होती कि वह कब आ खड़ा हो। इस प्रकार वह सर्वव्यापक परमेश्वर के समान है। उसके स्वरूप को पूरी तरह से आत्मसात किये बिना आचार-विचार में शुद्धता नहीं आ सकती। इसलिए निष्काम भाव से उसकी स्तुति करनी चाहिए। उसे जानने के लिए कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है। वह हमारे हृदय में विराजमान है।

परमात्मा सारे जगत का आधार है। जिस प्रकार रथ में गति होती है, उसके सवार में नहीं, उसी भांति इस चराचर ब्रह्माण्ड का नियन्ता अपने स्थान पर स्थिर है। सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी तथा हवन आदि इस सम्पूर्ण जड़-चेतन जगत् के साथ गतिमान हैं, परन्तु इनको घुमाने वाला अपने स्थान पर स्थिर है। वही सभी लोकों को धारण करने वाला है। 'अग्नि' उसी परमात्मा का विशेषण मात्र है। हम उसी अग्निस्वरूप परमात्मा की उपासना करें। आगे कहा है—

अग्निमिन्धानो मनसा धिय ꣳ सचेत मर्त्त्यः।
अग्निमिन्धे विवस्वाभिः ॥

(साम. 19)

अर्थात् हे मनुष्य! तू श्रद्धा से परमात्मा का ध्यान करते हुए, श्रेष्ठ बुद्धि को प्राप्त कर। तू सूर्य-किरणों के समान अग्निस्वरूप ईश्वर को अपने हृदय में धारण कर।

भाव यही है कि ब्रह्ममुहूर्त की वेला में जब सूर्य की किरणें उदित होती हैं, तब परमात्मा की उपासना करके श्रद्धापूर्वक उसे अपने हृदय में धारण करना चाहिए। प्रभु की उपासना के पीछे मनुष्य का लक्ष्य मोक्ष प्राप्त करना होता है, ताकि वह जीवन-मरण के चक्र से छूट जाये। भौतिक जगत् उसे अधिक समय तक सुखी नहीं रख सकता। सच्चा आनन्द परमात्मा के संसर्ग से ही प्राप्त हो सकता है और संसर्ग परमात्मा की स्तुति से ही मिल सकता है।

यह स्तुति मन की एकाग्रता से प्राप्त होती है। यदि मन इधर-उधर भटक रहा हो, तो स्तुति का प्रभाव नगण्य हो जाता है। कबीरदासजी ने एक स्थान पर कहा है—

'माला तो कर में फिरै, जीभ फिरै मुख माहिं।
मनुआ तो चहुं दिसि फिरै, यह तो सुमिरन नाहिं ॥'

(कबीर)

अतः ईश्वर का चिन्तन और भजन पूर्ण श्रद्धा से ही किया जाना चाहिए। परमात्मा को हृदय में प्रकाशमान करना ही हृदयकुण्ड में अग्निस्वरूप ज्योति को प्रज्वलित करना है।

इस मन्त्र में मनुष्य को ज्ञान मिलता है कि प्रातःकाल की बेला में वह अपने तमोगुणरूपी दोषों के अन्धकार को नष्ट कर दे और ज्ञान की अग्नि को प्रदीप्त कर शुभकर्मों की ओर अपने को लगाये।

दूसरा अध्याय

दूसरे अध्याय में 'इन्द्र' की उपासना का वर्णन है। इन्द्र का मुख्य अर्थ भी परमेश्वर ही है। वेद में अग्नि, इन्द्र, वायु, सोम आदि नाम भी परमेश्वर के लिए ही आये हैं। यह बात प्रसिद्ध है कि इन्द्र को मेघ का शत्रु और वर्षा का कर्ता देवता माना गया है। इस दृष्टि से इन्द्र, आकाश और धरती के मध्य अन्तरिक्ष का देवता है। वह धरती के प्राणियों की रक्षा करता है—

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे।
युजं वृत्रेषु वज्रिणाम्॥

(साम. 130)

अर्थात् हे इन्द्र! हम प्रजाजन महाविपत्ति में आपको पुकारते हैं और छोटी लड़ाई में भी दण्डधारी राजा को पुकारते हैं।

जीवन-संग्राम छोटा हो या बड़ा, सभी में विपत्ति का सामना करना पड़ता है। ऐसे में प्रजा दण्डधारी राजा को अपनी सुरक्षा के लिए पुकारती है। यह दण्डधारी 'इन्द्र' परमात्मा का ही रूप है, जिसकी स्तुति करके भक्तजन अपनी विपत्तियों से मुक्ति पाना चाहते हैं।

तीसरा अध्याय

तीसरे अध्याय में भी 'इन्द्र' की उपासना के मन्त्र हैं, किन्तु कहीं-कहीं 'सोमरस' का भी उल्लेख मिलता है—

अयं वां मधुमत्तमः सुतः सोमो दिविष्टिषु।
तमश्विना पिबतं तिरो अह्नयं धत्तं रत्नानि दाशुषे॥

(सोम. 306)

हे सूर्य! हे चन्द्र! तुम्हारे लिए यज्ञ में प्रयोग होने वाले सोमरस को खींचा है। यह एक दिन पुराना रस है। आप इसे ग्रहण कीजिये और हमें उत्तम धन-धान्यादि से पूरित कीजिये।

गायन का महत्त्व 'सामवेद' में इस मन्त्र से और भी स्पष्ट हो जाता है—

गायन्ति त्वा गायत्रिणोऽर्चन्त्यर्कमर्किणः।
ब्रह्माणस्त्वा शतक्रत उद्वंशमिव ये मिरे॥

(साम. 342)

अर्थात् हे बहुकर्मन्! हे ज्ञानवान् परमेश्वर! इन्द्र! गान में कुशल (हम) आपका गान करते हैं। पूजा में चतुर (हम) हे पूजनीय! आपको पूजते हैं। यज्ञ के पुरोहित ब्राह्मण बांस अथवा वंश के समान आपको ऊंचा करते हुए आपकी प्रशंसा करते हैं।

यहां मन्त्र में 'गायन्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। भाव यही है कि ईश्वर की स्तुति गाकर ही की जानी चाहिए, परन्तु स्तुति करने का ढंग भी शुद्ध होना चाहिए। हम पूजा करते समय मन्त्र तो कुछ पढ़ते हैं और ईश्वर से मांगते कुछ हैं। यह प्रवृत्ति ठीक नहीं है।

हमारी प्रार्थनाएं स्वार्थ के संकीर्ण घेरे में घिरी नहीं होनी चाहिए। हमारी प्रार्थना में प्राणिमात्र के कल्याण की भावना निहित होनी चाहिए। मन्त्र का सही और शुद्ध अर्थ जानकर ही प्रार्थना की जानी चाहिए। यदि कोरे भांड के समान ईश्वर की स्तुति या गुण-कीर्तन किया जाये, तो उससे न तो चरित्र सुधरता है और न प्रार्थना ही स्वीकार होती है। ऐसी प्रार्थना करने से कोई लाभ नहीं है।

जो मनुष्य जैसी और जिस बात की प्रार्थना करता है, उसका आचरण भी उसी के अनुरूप होना चाहिए। ऐसी प्रार्थना से कोई लाभ नहीं है, जिसमें सारी प्रतिष्ठा, धन-ऐश्वर्य, यश आदि केवल अपने लिए ही मांगा गया हो। आंखें बन्द करके भगवान् के सम्मुख लम्बा-चौड़ा मांगपत्र रखना सबसे बड़ी धृष्टता है। विनीत भाव से की गयी प्रार्थना के दो शब्द ही पर्याप्त होते हैं।

श्रद्धा और तन्मयता से की गयी प्रार्थना से जीवन का मार्ग प्रशस्त होता है और अहम् का त्याग करके समर्पण की भावना को बल प्राप्त होता है। प्रभु की शरण में ही कल्याण का मंन्त्र स्थित है। उपासक को उसी मन्त्र को प्राप्त करने का प्रयत्न अपनी स्तुति में करना चाहिए।

चौथा अध्याय

चौथे अध्याय में 'सोम' के महत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। यहां सोम-देव (सोमरस) की व्याख्या भी की गयी है। इन्द्र को सोमरस प्रिय है। इसलिए उपासक सोम का अर्घ्य चढ़ाकर परमात्मा (इन्द्र) को प्रसन्न करता है।

पवस्व सोम महान्त्समुद्रः पिता देवानां।
विश्वाभिधाम॥

(सोम. 429)

अर्थात् हे सोम! हे शान्तस्वरूप! समुद्र के समान परमात्मा! आपके सान्निध्य में जीवात्माएं आनन्द का अनुभव कर रही हैं। हे देवताओं के पिता! आप सोमरस ग्रहण कर प्रसन्न हों और सभी दिशाओं को पवित्र करें।

ज्ञानी पुरुष शरीर में बल और तेजस्विता प्राप्त करने के लिए सोमरस का सेवन करते हैं और उसे देवता के चरणों में भी चढ़ाते हैं—

इन्दुमिन्द्राय सिंचत पिबाति सोम्यं मधु।
प्र राधांसि चोदयते महित्वना॥

(सोम. 386)

अर्थात् हे विद्वानो! हे ऋषिगण! तेजस्विता के लिए सोमरस का आचमन करो अथवा हवन करते हुए शहद का पान करो। तुम अपनी श्रीवृद्धि से वृद्धजन को धन-धान्य से सेवित करो।

जब मनुष्य सोमादि ओषधियों से यज्ञ अथवा होम करते हैं, तब इन्द्र नामक देवता मेघवर्षा करने वाली विद्युत् के समान हर्षित होता है।

सूर्य की किरणों से अनेक प्रकार के रोगों का नाश होता है। रात्रि में होने वाले काम-भावों को सूर्य की किरणें नष्ट करती हैं। मनुष्य के लिए यह उचित है कि वे उत्तम जड़ी-बूटियों से सोमरस निचोड़ कर सूर्य को अर्घ्य चढायें। इससे सूर्य प्रसन्न होकर जीवनी शक्ति का प्रादुर्भाव हमारे शरीर में निश्चित रूप से करेगा।

सामवेद का ऋषि कहता है कि जो स्त्री उषाकाल में जागकर अपने सभी कर्म बिना किसी आलस्य के करती है, वह अत्यन्त उद्यमी होती है और उसके घर में लक्ष्मी निवास करती है। सोम ऐसी ओषधि है, जिससे मनुष्य का शरीर पुष्ट होता है और जो अत्यधिक आनन्द देने वाली है।

पांचवां अध्याय

पांचवें अध्याय में पवमान (अग्नि) तथा 'सौम्य,' अर्थात् 'सोम' की फिर व्याख्या की गयी है। पवमान, सोम का अर्थ अग्नि और इन्द्र से होते हुए भी इसका मूल अर्थ 'परमात्मा' ही है।

'यास्क' मुनि ने 'सोम' और 'पवमान' को एकार्थक बताया है। **'निरुक्त'** में सोम को एक ओषधि माना है। यह सोम शब्द सुनोति धातु से बना है, जो कि उस ओषधि के लिए प्रयोग किया जाता है, जो कि निचोड़कर या अर्क के लिए भपारा देकर खींची जाती है। उन्होंने इसे आश्चर्य से भरे गुणों से युक्त माना है। चन्द्रमा को भी सोम कहा जाता है। यहां ज्योति, प्राण, यज्ञ आदि का नाम सोम बताया गया है।

सोम शीतप्रधान देशों या पर्वतों पर उत्पन्न होने वाला कोई दिव्य पौधा है, जिसकी जड़ों को कूट-पीटकर उसका रस निकाला जाता है। यह रस शरीर की पुष्टि के लिए परम आवश्यक है। यज्ञ में हवि देकर धुएं के द्वारा यह पुनः अपनी जन्मभूमि पर्वतों पर पहुंच जाता है। सोम आनन्द देने वाला है—

1 2 3 1 2 1 21 3 1 2

अर्षा सोम द्युमत्तमोऽभि द्रोणानि रोरुवत्।
सीदन् यानौ वनेष्वा॥

(साम. 503)

अर्थात् जब दशापवित्र में से निकलता और द्रोण कलश में धार बनकर सोमरस पड़ता है, तो 'धध-धध' शब्द करता हुआ सोमसेवियों को आनन्द देता है।

भाव यही है कि हे परमेश्वर! अनन्त प्रकाश वाले आप गृहरूप हृदयकमलों में विराजमान हों और उपासनारूपी यज्ञ में द्रोणकलशरूपी जो हमारे हृदय हैं, उन्हें वेद शब्दों का उपदेश देते हुए हमें प्राप्त होइये।

सोम को ऋषियों ने अमृत के समान माना है। सोम बुद्धि का उत्पादक है—

सोमः पवते जनिता मतीना
जनिता दिवो जनिता पृथिव्यः।
जनिताऽग्नेर्जनिता सूर्यस्य
जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः॥

(साम. 527)

अर्थात् हे अमृत के सदृश परमात्मा सोम! तू बुद्धि को देने वाला है। द्युलोक का उत्पादक है। पृथिवी का उत्पादक है। अग्नि का उत्पादक है। सूर्य का उत्पादक है। विद्युत् का उत्पादक है और यज्ञरूपी विष्णु का उत्पादक है। तू याज्ञिकों को प्राप्त होता है।

भाव यही है कि हे सोम! तू बुद्धि, आकाश, अग्नि, सूर्य, इन्द्र और यज्ञ को जन्म देने वाला है, अर्थात् तेरे लिए ही यज्ञ किये जाते हैं। तू सभी यज्ञकर्ताओं को प्रेरित करने वाला है।

यहां 'आत्मा' सोम है, जो सभी में निवास करता है। वह एक ओर जहां सभी प्राणियों में निवास करता है, वहीं वह अन्तरिक्ष को भी धारण करता है।

छठा अध्याय

इस अध्याय में अग्नि, इन्द्र, पवमान आदि अनेक पदार्थों का वर्णन हुआ है। यह अध्याय 'आरण्यक' के नाम से जाना जाता है। यहां देवता मनुष्यकार हैं। यहां मनुष्यों के अंगों के समान ही उनकी स्तुति की जाती है। इसमें राजा को ही देवता मानकर उसकी प्रशंसा की गयी है। अनेक मन्त्रों में अन्नदान की महत्ता पर भी बल दिया गया है—

अहमस्मि प्रथमजा ऋतस्य पूर्व देवेभ्यो अमृतस्य नाम।
यो मा ददाति स इदेवमावदहमन्नमन्नमदन्तमद्मि॥

(साम. 594)

अर्थात् अन्नरूपी परमात्मा कहता है कि हे मनुष्यो! मैं वायु, विद्युत् आदि देवताओं का पूर्वज हूं और सच्चे अमृत को टपकाने वाला हूं। जो पुरुष मेरा (अन्न का) दान करता है, वही इस प्रकार प्राणियों की रक्षा करता है और जो दान न देकर स्वयं ही खाता है, उस अन्न खाने वाले को मैं खा जाता हूं, अर्थात् उसे नष्ट कर देता हूं।

भाव यही है कि सबका प्राणाधार 'अन्न' है। जो मुझे जानकर अन्धों को अन्न दान करते हैं, वे ब्रह्म का ज्ञान ही दूसरों को बांटते हैं। वे प्राणियों की रक्षा करने वाले पुण्य के भागी होते हैं, परन्तु जो ऐसा नहीं करते, उन्हें मैं नष्ट कर देता हूं।

सामवेद का महानाम्न्यार्चिक काण्ड

ये महानाम्नी ऋचाएं न तो पूर्वार्चिक काण्ड में हैं और न उत्तरार्चिक काण्ड में। इन्हें दोनों से अलग मध्य में रखा जाता है।

ये महानाम्नी ऋचाएं एक प्रकार से शक्वरी छन्द की ऋचाएं हैं। इनका देवता 'इन्द्र' है। मूल रूप में ये तीन ऋचाएं हैं, परन्तु उपसर्गों सहित वेदपाठी इन्हें 9 करके पढ़ते हैं। महानाम्नी में त्रैलोक्य आत्मा का भी वर्णन है।

इन महानाम्नियों में जो साम गाया जाता है, उसे 'शक्वरी साम' कहते हैं।

सामवेद का उत्तरार्चिक काण्ड

प्रथम अध्याय

उत्तरार्चिक काण्ड का प्रथम अध्याय 'सोम' देवता से सम्बन्धित है। सोम को कभी ईश्वर, कभी पिता, तो कभी पुत्र के रूप में ऋषिगण स्वीकार करते हैं—

ऋतस्य जिह्वा पवते मधु प्रियं
वक्ता पतिर्धियो अस्या अदाभ्यः।
दधाति पुत्रः पित्रोरपीच्यां३
नाम तृतीयमधि रोचनं॥

(साम. 701)

अर्थात् सत्यभूत यज्ञ की अग्नि की लपट से चराचर शब्द करने वाले, इस यज्ञकर्म का पालक नष्ट न करने वाले प्रिय सोम रस को पान करता है तथा इससे द्युलोक में प्राप्त यश को प्राप्त करता है, जैसे माता-पिता के मध्य पुत्र तीसरे छिपे हुए नाम को धारण करता है।

भाव यही है कि प्रारम्भ में माता, पिता तथा पुत्र का नाम किसी यश अथवा अपयश के कारण उजागर नहीं होता, परन्तु जैसे कोई पुत्र अन्तरिक्ष और पृथिवीलोक में अपने गुणों के कारण प्रसिद्ध हो जाता है, वैसे ही सोमरस सोमयज्ञ से पूर्व प्रसिद्ध

नहीं होता, परन्तु सोमयज्ञ के बाद सोमरसपान के उपरान्त सोम अपने गुणों को प्रकट करके सर्वत्र यश का भागी हो जाता है।

जो ऋषि अग्नि के साथ सोम के प्रयोग की विधि को जानते थे, वे सोम द्वारा परमात्मा की ही स्तुति करते थे। ऐसे ऋषियों का बल सोमपान के कारण कभी क्षीण नहीं होता था।

दूसरा अध्याय

दूसरे अध्याय में 'इन्द्र' की उपासना की गयी है। इन्द्र ही हमें अन्न, ज्ञान और पशुधन देने वाला है—

त्वं न इन्द्र वाजयुस्त्वं गव्युः शतक्रतो।
त्वं हिरण्ययुर्वसो॥

(साम. 7/8)

अर्थात् हे परमेश्वर (इन्द्र)! आप हमारे लिए अन्न और अनन्त ज्ञान तथा गौ आदि पशुधन देने वाले हैं। आप हमें स्वर्णादि धन-सम्पदा दीजिये। भाव यही है कि आप हमारे लिए ऐसी इच्छा करें कि हमारे पास पशु, लक्ष्मी, ज्ञान तथा अन्य सुख-सामग्री सदा विद्यमान रहे।

इन्द्र द्वारा मेघवर्षा होती है। वर्षा से पृथ्वी की उर्वरा शक्ति बढ़ती है। उपजाऊ धरती से अन्न मिलता है, पशुओं के लिए चारा प्राप्त होता है। मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अन्न उत्पन्न करता है और धन-धान्य से अपने को समर्थ बनाता है।

तीसरा अध्याय

तीसरे अध्याय में पुनः 'सोम' देवता की उपासना की गयी है। उत्तरार्चिक काण्ड में मन्त्रों की प्रायः पुनरुक्ति हुई है। सोम को अमृत के समान मानकर उसके पान की प्रेरणा दी गयी है। वह सबका स्वामी है और सुख-ऐश्वर्य प्रदान करने वाला है।

मित्रं वयं हवामहे वरुणं सोमपीयते।
या जाता पूतदक्षसा॥

(साम. 893)

अर्थात् हम याज्ञिक लोग सोमपान के लिए 'प्राण' और 'अपान' को पुकारते हैं, जो सोम के सेवन से पवित्र बल से युक्त हुए हैं।

भाव यही है कि जैसे देह की रक्षा के लिए 'प्राण' और 'अपान', अर्थात् 'ग्रहण' और 'विसर्जन' प्रमुख हैं, वैसे ही इस ब्रह्माण्ड से प्राणस्वरूप ईश्वर व

अपानस्वरूप जीव का जगत् में आना महत्त्वपूर्ण है। सोमयज्ञ द्वारा इनकी स्थिति में सुधार आता है और जीवन का उत्तम निर्वाह होता है।

चौथा अध्याय

इस अध्याय में भी 'सोम' की उपासना की गयी है। सोमरस को अन्नरस के समान शक्तिशाली बताया गया है, जो कि समस्त इन्द्रियों को पुष्ट करता है। सोम उस राजा के समान है, जो सर्वत्र शुद्धि करता है, आनन्द देता है और ज्ञान के चक्षुओं को खोलता है।

पांचवां अध्याय

इस अध्याय में भी 'सोम' देवता की उपासना की गयी है। जो याज्ञिक सोम से यज्ञ करते हैं, वे सोमरस से व्याप्त मेघमण्डल से वर्षा कराने में समर्थ होते हैं। सोमरूपी ईश्वर शान्ति का देने वाला है, प्रकाश और शक्ति का प्रेरक है, धन-धान्य को उत्पन्न करने वाला है। सोम ओषधियों का देवता है, विद्वानों की प्रेरणा है, कवियों के हृदयों को भावों से भर देने वाला है, वन्यपशुओं की श्रीवृद्धि करने वाला है। वह गति का नियन्ता है तथा सभी दिशाओं को पवित्र करने वाला है।

अध्यात्म पक्ष में 'आत्मा' को ही सोम माना गया है। यह दिव्य कर्मों को कराने वाला है, इन्द्रियों का ब्रह्मा है, कवियों की पद-रचना में सहायक है, इन्द्रियों के व्यापक बोध में सहयोगी है, इन्द्रियों में बल-वृद्धि करने वाला है। यह इन्द्रियों से परे गतिमान शक्ति का परिचायक है।

छठा अध्याय

इस अध्याय में भी 'सोम' की ही उपासना की गयी है।

सांतवां अध्याय

इस अध्याय में भी 'सोम' की उपासना है।

आठवां अध्याय

यह अध्याय भी 'सोम' से सम्बन्धित है।

नौवां अध्याय

इस अध्याय में भी 'सोम' का वर्णन किया गया है।

दसवां अध्याय

इस अध्याय में भी 'सोम' की उपासना की गयी है। सोम यज्ञ का देवता है। वह समस्त वातावरण को शुद्ध करता है। विद्वान् लोग सोम-पान करके सामवेद के

मन्त्रों का सस्वरगान करते हैं और अग्निदेवता में सोम की हवि देते हैं। वे सोम से ईश्वर को प्रसन्न करते हैं और सोम को ही जीवन में प्रकाश देने वाला देवता मानते हैं। इन्द्र द्वारा सेवित 'सोमरस 'सर्वत्र माधुर्य टपकाता-सा प्रतीत होता है—

ज्योतिर्यज्ञस्य पवते मधु प्रियं
पिता देवानां जनिता विभूवसुः।
दधाति रत्नं स्वधमोरपीच्यं
मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रसः॥

(साम. 1,031)

अर्थात् हे यज्ञ की ज्योति, वायु आदि देवों का पिता-पालक, उन्हें उत्तम संस्कार देने वाला, अत्यधिक धनवान्, अतिशय हर्षदायक, हर्षयुक्त, इन्द्र द्वारा सेवित सोमरस! तुम प्रिय मधुरस (माधुर्य) को टपकाते हो और अन्तरिक्ष तथा पृथिवी में, गूढ़ सार वस्तु (रत्नम्) याज्ञिकों को धारण कराते हो।

सोम को 'उत्पादक' इस हेतु भी कहा जाता है कि वह वृष्टि, अन्न और प्रजा को जन्म देने वाला कहा गया है।

ग्यारहवां अध्याय

ग्यारहवें अध्याय में 'अग्निदेव' की उपासना की गयी है। यहां उद्गाता यजमान के लिए अग्नि को प्रज्वलित करने हेतु वायु का आह्वान करता है—

सुषमिद्धो न आ वह देवां अग्ने हविष्मते।
होतः पावक यक्षि च॥

(साम. 1348)

अर्थात् हे शोधक अग्ने! होमकर्ता यज्ञ करते हुए यजमान के हेतु देवदूतों को बुलाने के लिए वायु का आह्वान करता है और यजन करता है।

भाव यही है कि 'अग्नि' और 'यज्ञ' का महत्त्व प्राचीन ऋषियों के सामने प्रमुख था। वायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं हो सकती थी। इसलिए यहां वायु का आह्वान किया गया है।

बारहवां अध्याय

इस अध्याय में भी 'अग्नि' देवता की उपासना के मन्त्र हैं। अग्नि के प्रज्वलन से और उसमें सुगन्धित सामग्री के डालने से वातावरण शुद्ध और पवित्र होता है। सर्वत्र शुद्धि होती है। ऐसे यज्ञ को करने के लिए याज्ञिक अग्निदेव का आह्वान करते हैं—

त्वमग्ने सप्रथा असि जुष्टो होता वरेण्यः
त्वया यज्ञं वि तन्वते॥

(साम. 1,407)

अर्थात् हे अग्ने! तू देवों को बुलाने के लिए प्रज्वलित होता है। तू सर्वत्र वरणीय है, सर्वत्र फैलने वाला है। सभी यजमान यज्ञ करके तेरे प्रकाश को, तेरी सुगन्धि को, तेरी पवित्रता को सर्वत्र विकीर्ण करने वाले हैं।

आगे —पन्द्रहवें, सत्रहवें, उन्नीसवें और इक्कीसवें अध्याय में —'अग्निदेव' की ही उपासना की गयी है। तेरहवें और बीसवें अध्याय में 'सोमदेव' की उपासना के मन्त्र हैं तथा चौदहवें, सोलहवें, अट्ठारहवें और बाईसवें अध्याय में 'इन्द्र' की उपासना की गयी है।

इन सभी अध्यायों में प्रमुख रूप से 'सोम,' 'इन्द्र' और 'अग्नि' की ही उपासना से सम्बन्धित ऋचाएं अथवा मन्त्र हैं। इन मन्त्रों को ऋषियों ने सस्वर गाया है और इन देवताओं की उपासना की है।

'सामवेद' का अन्तिम मन्त्र 'इन्द्र' से सम्बन्धित है, जो इस प्रकार है—

स्वस्ति नऽइन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्ताक्ष्योऽअरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥

(साम. 1,875)

अर्थात् जिसका सबसे बढ़कर यश है या वेद-मन्त्रों में जिसका सबसे अधिक श्रवण है, वह देवराज इन्द्र हमारे लिए सुख, कल्याण या अविनाश को धारण करे। सभी को लाभान्वित करने वाला या ज्ञान देने वाला या ज्ञान का ज्ञाता विश्वरूप वेद हमारा पोषण करने वाला हो। जिसकी नीति व गति रोगरहित है, वह विद्युत् का देवता (इन्द्र) हमारे लिए सुख, कल्याण व अविनाश को धारण करे। वह देवगुरु के समान, विशाल सूर्यों को अथवा ज्ञान को धारण करने वाला, ज्ञान का पोषक परम देव हमारे लिए सुख, कल्याण व अविनाश को ईश्वर की कृपा से धारण करे।

पूषा (सूर्य), ताक्ष्य (सूर्य) और बृहस्पति आदि इन्द्र के विशेषण हैं। इन्द्र हमें सुख देने वाला है, हमारा कल्याण करने वाला है और हमें ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करने वाला है। हम सभी उसका नमन करते हैं। वह देवाधिदेव है, परमात्मा है।

□□

अथर्ववेद
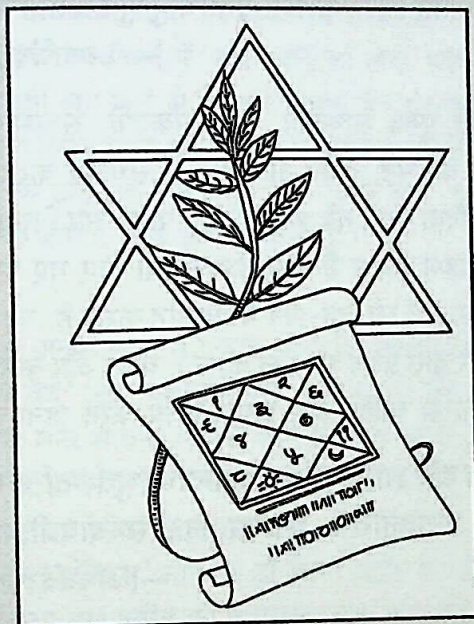
"अथर्ववेद के मन्त्रों में साधना, उपासना तथा तन्त्र-विधान से अध्यात्म, ब्रह्मविद्या व आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। अथर्ववेद की मन्त्र-साधना से साधक स्वयं को नियन्त्रित करके अपने को 'स्थितप्रज्ञ' की स्थिति तक पहुंचाता है। 'स्थितप्रज्ञ' निष्काम भाव से आत्मतुष्ट व्यक्ति को कहते हैं। अथर्ववेद क़े मन्त्रों में मानव-जीवन के विविध पक्षों का सांगोपांग वर्णन प्राप्त होता है। अथर्व महत्ता का द्योतक है और इसमें ज्ञान का सर्वोच्च स्वरूप वर्णित है।"

अथर्ववेद के महत्त्वपूर्ण मन्त्र

"यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रण मनसा जुहोमि।
इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देता यन्तु सुमनस्यमानाः ॥"

—(*अथर्ववेद 2/35/5*)

अर्थ—जो पुरुष सत्यव्रती, सत्य संकल्पी, सत्यसन्ध होकर ईश्वरीय ज्ञान को मन, वचन और कर्म से स्वीकार करता है तथा ऋषियों की वैदिक वाणी को श्रवण, पठन-पाठन और निरन्तर विचार मग्न होकर ग्रहण करता है और ईश्वर द्वारा दिए गए इस ज्ञान-विज्ञान को तथा धर्म को जन-जन में प्रचारित करता है, वह पूजनीय है। अत: ईश्वर द्वारा प्रदत्त इस ज्ञान को मन, वचन और कर्म से सभी को स्वीकार करना चाहिए और इसका प्रचार करते रहना चाहिए।

"शान्ता द्यौः शान्ता पृथिवी शान्तमिदभुर्वश्न्तरिक्षम्।
शान्ता उदन्वतीरापः शान्ता नः सन्त्वोषधीः ॥"

—(*अथर्ववेद 21/9/1*)

अर्थ—अत्यधिक उष्णता वाला प्रकाश शान्त हो, पृथिवी की उथल-पुथल शान्त हो, अन्तरिक्ष शान्त हो, उत्तम जल वाली उफनती नदियां शान्त हों, ओषधियां शान्त हों।

भाव यही है कि धरती पर और धरती तथा आकाश के मध्य जहां कहीं भी प्राकृतिक विपदाएं आयें, वे प्राणिमात्र के लिए शान्तिदायक हों। पृथिवी पर उत्पन्न होने वाली समस्त ओषधियां प्राणी के दुःख को शमन करने वाली हों, अर्थात् ईश्वर ने जिस प्रकृति की सृष्टि की है, वह प्राणिमात्र के लिए सुखकारी हो, यही हम ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।
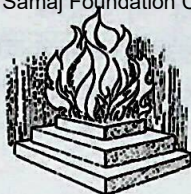
अथर्ववेद

चारों वेदों में अथर्ववेद चौथा है। अथर्ववेद दो अक्षरों से मिलकर बना है। अथर्वन+वेद = अथर्ववेद। अथर्व में 'थर्व' धातु का अर्थ 'चलना,' अर्थात् 'गति' है। इसमें 'अ' उपसर्ग लग जाने से 'अथर्व' बनता है। तब इसका अर्थ हो जाता है—निश्चल, अर्थात् स्थिर, परन्तु इसका अर्थ गतिहीनता नहीं है। इसका अर्थ है—वेद का वह अर्थ या ज्ञान, जो स्थिर है। यह 'स्थिर ज्ञान' एकरस, सर्वव्यापक परब्रह्म परमेश्वर का ज्ञान है। यह ज्ञान अचंचल है।

रचना-प्रक्रिया

अथर्ववेद को अनेक नामों से पुकारा जाता है। वैदिक साहित्य में अथर्ववेद 'ब्रह्मवेद,' 'भैषज्य वेद' और 'अथर्वाङ्गिरस्' नाम से भी पुकारा जाता है।

अथर्ववेद की मन्त्र साधना साधक को नियन्त्रित करके 'स्थितप्रज्ञ' बनाती है। इसकी साधना और चिन्तन करने वाले ऋषियों को 'अथर्वा' अथवा 'आथर्वण' कहा जाता है। ये लोग 'अग्नि' के उपासक थे।

'अथर्वा' और 'अंगिरस' नाम के दो भिन्न ऋषि थे। इन्होंने ही सर्वप्रथम अग्नि को प्रकट किया था। अग्नि की उपासना 'यज्ञ' द्वारा की जाती थी।

अथर्वा ऋषि द्वारा जो ऋचाएं प्रस्तुत की गयीं, वे अध्यात्मपरक, सुखकारक, आत्मा का उत्थान करने वाली तथा जीवन में मंगलकारक स्थितियां प्रदान करने वाली हैं। ये 'सृजनात्मक ऋचाएं' हैं।

अंगिरस ऋषि द्वारा जो ऋचाएं प्रस्तुत की गयी हैं, वे अभिचारकर्म को प्रकट करने वाली, शत्रुनाशक, जादू-टोना, मारण, वशीकरण आदि को प्रदान करने वाली हैं। ये 'संहारात्मक' ऋचाएं हैं।

अथर्ववेद संहिता बीस काण्डों में विभक्त है। इसमें 726 सूक्त हैं और 5,977 मन्त्र हैं। बीसवें काण्ड में अधिकांश मन्त्र 'ऋग्वेद' के हैं।

अथर्ववेद के इन मन्त्रों में साधना, उपासना तथा तन्त्र-विधान से अध्यात्म, ब्रह्मविद्या व आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। दोषों—दुर्भाग्य, दैन्य, दुःख, दारिद्र्य, पाप, शाप, ताप, अनिष्ट, आपत्तियां, संकट, संघर्ष, कष्ट, प्रेतबाधाओं—आदि से जीवन की रक्षा होती है।

अथर्ववेद की नौ शाखाओं का उल्लेख 'महाभाष्य' में हुआ है—स्तौद, पैप्पलाद, मौद, शौनक, जाजल, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य। इनमें से 'शौनक' और 'पैप्पलाद' ही उपलब्ध हैं। प्रचलन 'शौनक' शाखा का है। इसमें 'कर्मकाण्ड' का वृहद् जाल बिछा हुआ है।

अथर्ववेद की विषयवस्तु

'अथर्ववेद' के बीस काण्डों में—'ब्रह्मविद्या,' 'मातृभूमि,' 'स्वराज्य शासन,' 'गृहस्थाश्रम,' 'दीर्घ-जीवन और आरोग्य सन्धान,' 'ज्ञान-वृद्धि,' 'संगठन,' 'विजय-प्राप्ति,' 'ओषधि-विज्ञान' तथा 'जादू-टोना' आदि के मन्त्र हैं। इनमें भी 'ब्रह्मज्ञान' सर्वोपरि है।

'अथर्ववेद' के 13, 14, 15, 16, 17, 18 और 20 काण्ड पूरी तरह से व्यवस्थित हैं। इनमें विषय के अनुसार ही मन्त्रों का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम काण्ड से बारहवें काण्ड तक और उन्नीसवें काण्ड में, विषयों के अनुसार सूक्तों और मन्त्रों का संग्रह नहीं है। अथर्ववेद के सभी काण्डों में विषय की विविधता के दर्शन किये जा सकते हैं।

प्रथम काण्ड

प्रथम काण्ड में 35 सूक्त और 153 मन्त्र हैं। इसमें विविध रोगों, शत्रुविनाश, प्रसूति, देह-पुष्टि कर्म, रोगनिवारण, दीर्घायु आदि के मन्त्र हैं। रोगविनाश का यह मन्त्र द्रष्टव्य है—

श्यामा सरूपं करणी पृथिव्या अध्युद्भृता।
इदमूषु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय॥

(अथ. 1/24/4)

अर्थात् जैसे उत्तम वैद्य ओषधों से रोग को दूर कर, रोगी को सभी प्रकार से स्वस्थ करके उसे सुख पहुंचाता है, उसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सभी विघ्नों को हटाकर कार्यसिद्धि करके आनन्द भोगता है।

दूसरा काण्ड

दूसरे काण्ड में 36 सूक्त और 207 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में भी पापमोचन, शत्रुविनाश, दीर्घायु, दस्युनाश, सुरक्षा, बल-प्राप्ति, कृमि-भंजन, विश्वकर्मा आदि का विवेचन किया गया है। समर्थ व्यक्ति सदैव विजयी होता है—

यथा भूतं च भवयं च न बिभीतो न रिष्यतः।
एवा में प्राण मा बिभेः॥

(अथ. 2/14/6)

अर्थात् सामर्थ और सत्य पथ पर चलने वाला व्यक्ति न अतीत में और न भविष्य में भयभीत होता है। वह सदैव विजयी होता है। भूत और भविष्य का विचार करके जो कर्म करते हैं, वे सदैव सुखी रहते हैं।

इसी प्रकार पृथिवी पर विचरण करने वाले विभिन्न कीड़े-मकोड़ों से बचने की शिक्षा भी यहां दी गयी है—

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमि सारंगमर्जुनम्।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥

(अथ. 2/32/2)

अर्थात् पृथिवी और अन्तरिक्ष में नाना प्रकार के और वर्ण के कीड़े-मकोड़े, मक्खी-मच्छर आदि क्षुद्र जीवों को शुद्धि द्वारा दूर करके जो स्वस्थ रहते हैं, वे सभी प्रकार के आत्मिक दोषों को दूर करके आत्मिक शान्ति प्राप्त करते हैं।

तीसरा काण्ड

तीसरे काण्ड में 31 सूक्त और 230 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में शत्रु की सेना का सम्मोहन, स्वराज्य स्थापना, राष्ट्र के लिए सुयोग्य राजा, शत्रुविनाश, दीर्घायु, दुखों का नाश, वाणिज्य, कृषि, वनस्पतियां, शान्ति और समृद्धि, आत्मरक्षा एवं पशुपालन आदि की चर्चा की गयी है।

चौथा काण्ड

चौथे काण्ड में 40 सूक्त और 324 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, शत्रुविनाश, बाजीकरण, रोगनिवारण, पापमोचन, सेना की देखभाल, कीड़े-मकोड़ों से रक्षा, विषनाश, राज्याभिषेक आदि से जुड़े मन्त्र हैं। आत्मविद्या का यह मन्त्र देखिये—

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभि शोचनम्।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन॥

(अथ. 4/9/5)

अर्थात् जो मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से परमात्मा को अपनी आत्मा में स्थिर करता है, उसको आत्मिक और आध्यात्मिक शान्ति प्राप्त होती है तथा उसके आधिभौतिक तथा आधिदैविक कष्टों का विनाश हो जाता है।

पांचवां काण्ड

पांचवें काण्ड में 31 सूक्त और 376 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में ब्राह्मण जाति के महत्त्व का प्रतिपादन प्रचुर मात्रा में किया गया है। साथ ही शत्रुविनाश, विजय, कुष्ठरोग से मुक्ति, ब्रह्मविद्या, आत्मा, आत्मरक्षा,

सर्व-विनाश के उपाय, रोगों से मुक्ति, गर्भाधान, अग्नि, दीर्घायु आदि का भी वर्णन किया गया है। उत्तम राजा अपने उत्तम कुल के संस्कारों के आधार पर ही अपनी प्रजा के दुःख-सुख का ध्यान रखता है—

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता।
यक्ष्मं च नाशय तम्मानं चारसं कृधि॥

(अर्थ. 5/4/9)

अर्थात् हे गुणों की परीक्षा करने वाले राजन्! तू अपने नाम और कुल (माता-पिता के वंश) से अति उत्तम है। तू समस्त राजरोगों को अवश्य नाश करने वाला है। दुखीजन और ज्वर आदि रोगों से ग्रस्त प्रजा को सुखी बना तथा उनकी रक्षा कर।

आत्मा की उन्नति का उपदेश देते हुए अथर्ववेद कहता है कि परमेश्वर के लिए मधुर वचनों का प्रयोग कर (5/8/1 से 6 तक), पृथिवी को समृद्ध बनाने के लिए मधुर वचन कह, अन्तरिक्ष और अन्तरात्मा में स्थित हृदय की शुद्धि के लिए प्रार्थना कर, मध्यलोक, वायुमण्डल, अर्थात् द्युलोक के ज्ञान के लिए प्रार्थना कर, सुन्दर व्यवहार को पाने के लिए प्रार्थना कर तथा समृद्ध राज्य की प्राप्ति के लिए मधुर वाणी का प्रयोग कर।

भाव यही है कि आत्मा को जानने के लिए और सुख तथा आनन्द का साम्राज्य प्राप्त करने के लिए मधुर वचन और श्रेष्ठ ज्ञान को प्राप्त कर।

'हिंसा' कभी श्रेयस्कर नहीं होती। मनुष्य को सदैव उसका त्याग वैसे ही करना चाहिए, जैसे किसी उपद्रवी व्यक्ति को छोड़ दिया जाता है।

छठा काण्ड

छठे काण्ड में 142 सूक्त और 454 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में दुःस्वप्नों का विनाश, अन्नादि की समृद्धि, शत्रुनाश, सर्प-विषनिवारण, ईर्ष्या का त्याग, ओषधि-ज्ञान, पापनाश, दीर्घायु, रोगशमन, जल-चिकित्सा, यश-प्राप्ति, बाजीकरण, बल-प्राप्ति, गर्भधारण, कुष्ठरोग ओषधि, चिकित्सा, मेखला-बन्धन व सौभाग्य-वृद्धि आदि की चर्चा की गयी है।

मनुष्य को चाहिए कि कभी दूसरे की उन्नति देखकर ईर्ष्या न करे—

ईर्ष्याया ध्राजि प्रथमां प्रथमस्या उतापराम्।
अग्निं हृदय्यंशशोकं तं ते निर्वापयामसि॥

(अथ. 6/18/1)

अर्थात् मनुष्य दूसरों की वृद्धि देखकर कभी ईर्ष्या न करे। दूसरे की उन्नति अथवा सुख को अपना ही सुख और उन्नति माने।

सातवां काण्ड

सातवें काण्ड में 118 सूक्त और 286 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में आत्मा, परमात्मा, शत्रुनाश, सरस्वती, राष्ट्रसभा, सविता, वृष्टि, विष्णु, दीर्घायु, पापमोचन, अग्नि, धर्म, दुःस्वप्ननाश, गौ, अमृत आदि के मन्त्र हैं। सर्वव्यापी परमात्मा की उपासना करना सुख पाने के सदृश है—

यद् देवा देवान् हविषायजन्तामर्त्यान् भनसामर्त्येन।
मदेम तत्र परमे व्योमन् पश्येम तदुदितौ सूर्यस्य॥

(अथ. 7/5/3)

अर्थात् जो मनुष्य परमात्मा के नित्य उपकारी गुणों को अपने पूर्ण विश्वास और पुरुषार्थ से ग्रहण करते हैं, वे पुरुष आनन्द का उपभोग करते हुए, परमात्मा का दर्शन करते हैं। वे अविद्या को नष्ट करके व ज्ञान प्राप्त करके उसी प्रकार सर्वत्र विचरण करते हैं, जैसे सूर्य के निकलने पर अन्धकार नष्ट हो जाता है और सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है।

आठवां काण्ड

आठवें काण्ड में 10 सूक्त और 293 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में दीर्घायु, शत्रुनाश, गर्भदोषनिवारण, ओषधि, विराट् परमात्मा आदि के मन्त्र हैं। कीड़े-मकोड़े और रोगाणुओं का नाश करने के लिए मनुष्य को सुगन्धित पदार्थों का उपयोग करना चाहिए। परमात्मा सृष्टि के प्रारम्भ से ही स्थित है—

विराड् वा इदमग्र आसीत् तत्या जाताया।
सर्वमबिभेदियमे वेदं भविष्यतीति॥

(अथ. 8/10/1)

अर्थात् सृष्टि से पहले एक विराट् शक्ति थी। उसे ही ईश्वरीय शक्ति कहते हैं। उसी से सृष्टि का प्रारम्भ माना जाता है। उसी ने प्रकट होकर प्रत्येक जीवन में अपने को स्थित किया।

उस विराट् परमात्मा को जानकर ही मनुष्य इस संसार में समस्त कार्यों में निपुण होता है।

नौवां काण्ड

नौवें काण्ड में 10 सूक्त और 313 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में मधुविद्या, काम, शाला, ऋषभ, अतिथिसत्कार, गौ, आत्मा आदि के मन्त्र हैं। यह मधुर व्यवहार अथवा शिक्षा माता-पिता अपनी सन्तान को देते हैं—

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः।

एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥

(अथ. 9/1/11)

अर्थात् जैसे ऐश्वर्यवान् आत्मा (सोमः) प्रातःकाल के यज्ञ में माता-पिता का प्रिय होता है, वैसे ही कार्यकुशल-कर्मठ माता-पिता मेरी आत्मा में प्रकाश उत्पन्न करें।

भाव यही है कि कुशल माता-पिता अपने होनहार बालकों का हितसन्धान करने में सदैव तत्पर रहते हैं। उन्हें आचार्य के समान अपनी सन्तान को शिक्षित करना चाहिए।

परमात्मा ही सभी अणुओं-परमाणुओं में स्थित है—

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः।
अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम॥

(अथ. 9/10/14)

अर्थात् पृथिवी गोल है। सभी प्राणी सोम, अर्थात् अन्न आदि के रस से बलवान् होते हैं। परमाणुओं के संयोग और वियोग से अथवा आकर्षण-विकर्षण से समस्त संसार एक नाभि में स्थित है। परमेश्वर ही समस्त वाणियों, अर्थात् ज्ञान का भण्डार है। पृथिवी के गोल होने की बात वैदिक ऋषि जानते थे।

दसवां काण्ड

दसवें काण्ड में 10 सूक्त और 350 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में ब्रह्म, सर्पविषनिवारण, विजय, मणिबन्ध, ब्रह्मचर्य आदि के मन्त्र हैं। सनातन ब्रह्म के विषय में की गयी जिज्ञासाओं के बारे में ऋषिगण कहते हैं—

सनातनमेनमाहुरुतायद्य स्यात् पुनर्णवः।
आहेरात्रे प्र जायेते अन्यो अनस्य रूपयोः॥

(अथ. 10/8/23)

अर्थात् परमात्मा नित्य है। सदैव स्थायी रूप से रहने वाले परमात्मा के गुण जिज्ञासुओं को नित्य नवीन रूप में विदित होते हैं, जैसे दिन रात्रि से और रात्रि दिन से नित्य नवीन उत्पन्न होती है।

इस मन्त्र में 'सनातन' शब्द प्रमुख है, जो ईश्वर के लिए आया है। यह परमात्मा अनादिकाल से पुनः नवीन रूप लेकर प्रकट होता रहा है। जो नित्य है, वह कभी पुराना नहीं हो सकता। महर्षि दयानन्द ने धर्म के इसी सनातन स्वरूप को बार-बार समझाया है।

ग्यारहवां काण्ड

ग्यारहवें काण्ड में 10 सूक्त और 313 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में ब्रह्म, रुद्र, प्राण, ब्रह्मचर्य, पापमोचन, अध्यात्म, शत्रुनिवारण आदि के मन्त्र हैं। उस काल में यान, विमान, कला आदि के बारे में ऋषियों को पूरा ज्ञान था—

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेयोऽनु भूमौ जमार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्र॥

(अथ. 11/5/12)

अर्थात् विद्वान्, पुरुषार्थी व ब्रह्मचारी यन्त्र, कला, नौका, यान, विमान आदि की वृद्धि के अनेक साधनों से पृथिवी के जल, थल, पहाड़ को उपजाऊ बनाते हैं।

'अभिक्रन्दन' का अर्थ गर्जन करते हुए यन्त्र से है। इससे पता चलता है कि उस समय के लोग विविध यन्त्रों और विमान आदि के प्रयोग में प्रवीण थे।

बारहवां काण्ड

बारहवें काण्ड में 5 सूक्त और 304 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में मातृभूमि, स्वर्ग, आकाश आदि के मन्त्र हैं। भूमि पर विचरण करने वाले पशुओं का कृषि के लिए भी विशेष महत्त्व है। इस धरती पर विभिन्न रंग-रूप और वाणी बोलने वाले रहते हैं। उन सभी के लिए ऋषिगण धनवान् होने तथा उनकी सुख-समृद्धि की कामना 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आधार पर करते हैं—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवीमथौकसम्।
सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपम्फुरन्ती॥

(अथ. 12/1/45)

अर्थात् विविध भाषाओं को बोलने वाले, अनेक विचार और क्रियाकलाप वाले, बहुत से और बहुत प्रकार के आकार-प्रकार और रंग-रूप वाले लोगों—जैसे एक परिवार के छोटे-बड़े लोग घर में रहते हैं, वैसे ही हमारी यह धारण योग्य पृथिवी अथवा मातृभूमि उन सभी मनुष्यों को—एक परिवार की तरह धारण करे। जैसे बिना हिले-डुले, निश्चल, स्थिर भाव से खड़ी गाय अपने स्तनों से दूध की धारा देती है, वैसे ही सभी को अन्न, धन, फल-फूल, सोना-चांदी, तांबा, लोहा आदि देकर उन्हें समृद्ध करें।

तेरहवां काण्ड

तेरहवें काण्ड में 4 सूक्त और 188 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में अध्यात्म का वर्णन किया गया है। योगीजन प्रकाशस्वरूप

जगदीश्वर का ध्यान करके उसका सान्निध्य प्राप्त करते हैं और आनन्द की अनुभूति करते हैं। वह परमात्मा सबको समान रूप से देखता हुआ प्रकृति को नियमबद्ध रखता है। उसी का प्रकाश सर्वत्र व्याप्त है—

सूर्यो द्यां सूर्यः पृथिवीं सूर्य आपोऽति पश्यति।
सूर्यो भूतस्यैकं चक्षुरा रुरोह दिवं महीम्॥

(अथ. 13/1/45)

अर्थात् सूर्य सबको चलाने वाला है। वह परमेश्वर है। वह प्रकाशमान सूर्य, जो सर्वप्रेरक है, सर्वनियामक है, सारी पृथिवी को, सारे कार्यों को सदैव निहारता रहता है। वह सर्वनियन्ता, समस्त संसार का द्रष्टा, एक नेत्र स्वरूप ईश्वर आकाश और धरती पर सबसे ऊंचा है। वह पुरुषोत्तम है।

चौदहवां काण्ड

चौदहवें काण्ड में 2 सूक्त और 139 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में विवाह-संस्कार सम्बन्धी मन्त्र हैं। भारतीय जीवन में वैवाहिक संस्कारों का विशेष महत्त्व है।

पन्द्रहवां काण्ड

पन्द्रहवें काण्ड में 1 सूक्त और 220 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में अध्यात्म प्रकरण, परमात्मा की महिमा आदि का विशद वर्णन किया गया है।

सोलहवां काण्ड

सोलहवें काण्ड में 1 सूक्त और 103 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में दुःखमोचन के मंत्र हैं। यह समस्त संसार दुःख से बंधा है। मनुष्य इस दुःख से निकलकर सुख की चाह में जीवन व्यतीत करना चाहता है।

सत्रहवां काण्ड

सत्रहवें काण्ड में 1 सूक्त और 30 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में मोहन, वशीकरण और अभ्युदय प्रार्थना के मन्त्र हैं। जीवात्मा परमात्मा से सदैव सुख और आनन्द की कामना करता है—

उद्यते नम उदायते नम उदिताय नमः।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः॥

(अथ. 17/1/22)

अर्थात् उदय होते हुए परमात्मा को नमस्कार है, ऊंचे उठते हुए परमात्मा को

नमस्कार है, उदय हो चुके परमात्मा को नमस्कार है, विविध राजाओं को नमस्कार है, अपने आपको नमस्कार है, राजराजेश्वर सम्राट् को नमस्कार है।

भाव यही है कि परमात्मा प्रलय और सृष्टि की सन्धि अवस्था में, सृष्टि रचना की स्थिति में, सृष्टि की रचना कर चुकने की स्थिति में अपनी महानता प्रकट करता है। उस सर्वशक्तिमान् अद्वितीय जगदीश्वर को नमन करते हुए, हम सभी सुखी रहें। मोह-माया के बन्धनों से मुक्त रहें।

अट्ठारहवां काण्ड

अट्ठारहवें काण्ड में 4 सूक्त और 283 मन्त्र हैं।

इस काण्ड में अन्त्येष्टि कर्म का वर्णन है। मृत्यु के उपरान्त चिता कैसी बनानी चाहिए और अन्तिम कर्म करते हुए क्या-क्या करना चाहिए।

उन्नीसवां काण्ड

उन्नीसवें काण्ड में 72 सूक्त और 453 मन्त्र हैं। इस काण्ड में ज्योतिष ज्ञान का विशद वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें यज्ञकर्म, जगत्बीज पुरुष, नक्षत्रादि, शान्ति, दीर्घायु, अभय, सुरक्षा, ब्रह्मा, राष्ट्र, अश्व, अहंकार, मणिबन्ध, बल-प्राप्ति, रोगविनाश, जड़ी-बूटियां, रात्रि, ब्रह्मयज्ञ, काम, दुःस्वप्न, असुरविनाश, वेदमाता, काल आदि की चर्चा की गयी है।

सभी विद्याओं के अध्ययन के लिए पुरुषार्थ और साधना की आवश्यकता होती है—

> आयुषायुःकृतां जीवायुष्मान् जीव मा मृथाः।
> प्राणेनात्मन्वतां जीव मा मृत्योरुदगा वशम्॥

(अथ. 19/27/8)

अर्थात् जीवन देने वाले के जीवन के साथ तू जीवित रह, उत्तम जीवन वाला होकर तू जीवित रह। तू मृत्यु को प्राप्त न हो, आत्मसाक्षात्कार करने वाले ज्ञानियों के जीवन-सामर्थ्य से तू जीवित रह, मृत्यु के वशीभूत मत हो।

भाव यही है कि मानव-जीवन 'कर्मयोनि' और 'भोगयोनि' दोनों का समन्वित रूप है। यह मानव-शरीर हमें इसलिए मिला है कि हम अपने कर्मों के भोग को भोगें और नवीन कर्म करने के लिए प्रयासरत हों। जो आत्मज्ञानी मृत्यु के भय से मुक्त कराये, उसी के साथ अथवा उसके बताये मार्ग के अनुसार चलकर हम जीवन को सुखी बनायें।

काल का भय मनुष्य को सदैव लगा रहता है। यह काल एक घोड़े के समान है, जो सदैव दौड़ता रहता है—

कालो अश्वो वहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः।
तमारोहन्ति कवयो विपश्चितस्तस्य चक्रा भुवनानि विश्वा॥
(अथ. 19/53/1)

अर्थात् भृगु ऋषि काल के बारे में बताते हैं कि काल सात रस्सियों वाला, हज़ारों धुरियों को चलाने वाला अजर-अमर है। वह महाबली समयरूपी घोड़े के समान दौड़ रहा है। समस्त उत्पन्न वस्तुएं, पदार्थ, जीव और सारे भुवन अथवा लोक उसके चक्र में, चक्रवत घूम रहे हैं। उस घोड़े पर ज्ञानी और क्रान्तदर्शी लोग ही सवार हो सकते हैं।

भाव यही है कि समयरूपी काल-घोड़ा तेज़ी से दौड़ रहा है। इस पर ज्ञानी और दूरदर्शी व्यक्ति ही सवार हो सकते हैं, अर्थात् जिन्होंने आत्मदर्शन से मुक्ति पा ली है, उन्हें मृत्यु-भय कभी नहीं सताता।

जो विद्वान् हैं, पराक्रमी हैं, जितेन्द्रिय हैं, तपस्वी हैं, वे ही मृत्यु-भय से दूर होकर सुख प्राप्त करते हैं।

बीसवां काण्ड

बीसवें काण्ड में 143 सूक्त हैं और 958 मन्त्र हैं। यह सबसे बड़ा काण्ड है। इस काण्ड में ऋग्वेद के अधिकांश मन्त्र हैं और सामवेद के भी मन्त्रों की बहुतायत है। इस काण्ड में प्रमुख रूप से 'इन्द्र देवता' की उपासना के मन्त्र हैं। दानवीर यजमानों और राजाओं की भी यहां प्रशंसा की गयी है।

अथर्ववेद के मन्त्रों का अध्ययन करने पर पता चलता है कि यहां पर मानव-जीवन के विविध पक्षों का सांगोपांग वर्णन किया गया है। इसमें चारों वर्णों और चारों आश्रमों का विवेचन करते हुए मानव-जीवन में धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष के सिद्धान्त को समझाया गया है।

अथर्ववेद की रहस्य विद्या

'अथर्ववेद' के सम्पूर्ण मन्त्रों को 'शान्ति,' 'पुष्टि' और 'अभिचार' इन तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। इन मन्त्रों के द्वारा जो निष्कर्ष प्राप्त होता है, उसमें 'अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति' और 'प्राप्त वस्तु की रक्षा करना' ही इन मन्त्रों का लक्ष्य है।

उपरोक्त विचार पण्डित देवदत्त शास्त्री जी के हैं। उन्होंने इसे 'योगक्षेम' का नाम दिया है। इस योगक्षेम को अथर्ववेद में 'शान्ति,' 'पुष्टि' और 'अभिचार' द्वारा प्रकट किया गया है।

शास्त्री जी आगे कहते हैं—'अथर्ववेद रहस्य विद्या, तत्त्वज्ञान और जनकल्याणी कर्मों का वेद है।' इस वेद में 'कृत्यादूषण' एवं जो 'अभिचारकर्म' बताये गये हैं,

उनका उद्देश्य किसी को हानि पहुंचाना नहीं है, अपितु उनका उद्देश्य आत्मरक्षार्थ कर्मों से है। वे शान्ति और पुष्टि के कर्मों को स्थायित्व देने वाले हैं। अभिचारकर्मों से शत्रुओं, दुष्टों और असुरों का दमन किया जाता है, ताकि मानव-जाति का भला हो सके। किसी को हानि न हो। यहां उन्हें अपने अनुकूल बनाये जाने का प्रयास है, जिससे उनकी कृपा प्राप्त हो सके। यातुकर्म का आधार किसी को कष्ट पहुंचाना नहीं, अपितु उपासना से है।

यातुकर्म में ओषधि, गण्डा-तावीज़, मणिबन्ध आदि की उपासना और मन्त्रों के अनुष्ठान से शक्ति और सफलता प्राप्त की जाती है। अतः यातुकर्म को जादू-टोना-टोटका आदि मानना नासमझी की बात है। पार्थिव पदार्थों की प्राप्ति के लिए जो क्रिया की जाती है, वही 'यातुकर्म' कहलाती है। ध्यान द्वारा, भक्ति के द्वारा और ज्ञान के द्वारा 'यातुकर्म' किया जा सकता है। इसी कारण अथर्ववेद को रहस्य विद्या का सागर माना गया है। यह विद्या अत्यन्त व्यापक और विराट् है।

अध्यात्मज्ञान (ब्रह्मज्ञान)

अथर्ववेद में ब्रह्मज्ञान, अध्यात्मज्ञान, अर्थात् धर्म सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण उपदेशों का उल्लेख किया गया है। साधना और चिन्तन के द्वारा अनेक ईश्वरीय शक्तियों को खोजा गया है। आत्मदर्शन से 'स्थितप्रज्ञ' की स्थिति पायी गयी है। यह स्थिति अथर्ववेद के अधिक निकट है; क्योंकि 'अथर्व' का अर्थ ही 'अचंचलता की स्थिति' है। 'स्थितप्रज्ञ' भी वही है, जिसने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों पर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया हो। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सभी प्रकार की चंचलता पर नियन्त्रण करने वाले व्यक्ति को 'स्थितप्रज्ञ' कहा जाता है। यूं तो इस वेद में मन्त्र-तन्त्र, जादू-टोना आदि की बात दोष के रूप में देखी जाती है, परन्तु वास्तव में अथर्ववेद में अधिकांश मन्त्र ब्रह्मसत्ता की उपासना से ही सम्बन्धित हैं।

यहां उसी 'अज्ञात' से साक्षात्कार का प्रयास दिखाई पड़ता है। वह अज्ञान (परमात्मा) हमारी समझ से परे है, फिर भी वह हमारी रक्षा करता है, हमें विनाश से बचाता है, वह हमारे दुर्भाग्य का निवारण करने वाला है। उसी अज्ञात को प्राप्त करना, विनाश और दुर्भाग्य से अपने आपको बचाना, इस अथर्ववेद संहिता का प्रधान विषय है।

'अध्यात्म विद्या' को अथर्ववेद में 'गुह्य आध्यात्मिक विद्या,' अर्थात् रहस्यमयी विद्या कहा गया है। परमात्मा का साक्षात्कार अत्यन्त रहस्यमय है। उसका साक्षात्कार जो विद्या कराती है, वह गूढ़ तत्त्वों का ज्ञान कराने वाली 'गुह्य आध्यात्मिक विद्या' है।

जितना हमारे शरीर का महत्त्व है, उससे भी अधिक महत्त्व हमारे शरीर में

जीवनी शक्ति के रूप में विद्यमान 'आत्मा' का है। सम्पूर्ण जगत् में व्याप्त ईश्वर की

परम सत्ता का ज्ञान, अथर्ववेद की गुह्य अध्यात्म-विद्या के द्वारा ही कोई साधक प्राप्त कर सकता है।

'योग-विद्या' के सन्दर्भ में अथर्ववेद मानव-शरीर को ही अयोध्यापुरी मानता है। आठ चक्रों और नौ द्वारों वाली यह अयोध्या तब तक ही देवताओं के अधीन रहती है, जब तक देवासुर-संग्राम (सद्वृत्तियां-दुष्प्रवृत्तियां) नहीं छिड़ता।

'योग-विद्या' के अनुसार इस मानव-शरीर में मूलाधार आदि आठ चक्र हैं और इन्द्रियों के रूप में 9 इन्द्रियां हैं। इस नगरी के केन्द्र हृदय में 'प्रकाशमान स्वर्ग' स्थित है। यहीं यम, नियम, प्रत्याहार, प्राणायाम आदि द्वारा ईश्वर को पाया जा सकता है।

शरीर में स्थित षट्चक्रों का भेदन करके 'कुण्डलिनी' शक्ति को जगाया जाता है और उसे ब्रह्मरन्ध्र में उपस्थित परमात्मा के पास ले जाया जाता है, परन्तु यह कोई आसान कार्य नहीं है। इसके लिए कठोर और नियमित साधना की आवश्यकता होती है। प्राण-विद्या की साधना ही योग-साधना का लक्ष्य है।

अथर्ववेद के अध्यात्म सम्बन्धी मन्त्रों में उस 'सविता' देव की उपासना की जाती है, जिसके प्रकाश से ब्रह्माण्ड में स्थित असंख्य सूर्यों को प्रकाश और ऊर्जा प्राप्त होती है। यह 'सविता' देव सभी को उत्पन्न करने वाला है और सभी का पालन करता है। वह सत्य स्वरूप है। नित्य और अजन्मा है। वह शक्ति का स्रोत है। उत्तम दाता है और कल्याणकारी है।

उपासक या साधक परमात्मा के इसी 'सविता' स्वरूप की आराधना करते हैं। उसके गुणों को अपने हृदय में धारण करते हैं। परमात्मा के तेजोमय स्वरूप को धारण करने वाला साधक अहिंसक हो जाता है।

अथर्ववेद के काण्ड 5 के सूक्त 1 में नौ मन्त्रों द्वारा अध्यात्म विद्या का गूढ़ उपदेश दिया गया है। इन मन्त्रों की भाषा भी अत्यन्त गूढ़ है तथा प्रत्येक मन्त्र गूढ़ अध्यात्म भावों से भरपूर है।

इन मन्त्रों का सार तत्त्व यही है कि हम अपने आपको सदा मृत्यु के भय से दूर, अमर मानें। दीन-हीन भावों से दूर रहें। सत्य निष्ठा से अपनी आत्मशक्ति को पहचानें। अपनी समस्त इन्द्रियों को नियन्त्रण में रखें। सदैव उदात्त विचारों का निर्वहण करें, उदात्त जीवन का पालन करें। सदा सच्चिदानन्द स्वरूप का ध्यान करके आनन्दमय तथा शान्तिपूर्ण जीवन बितायें। इस मानव-शरीर का शुद्ध और पवित्र रूप से प्रयोग करें। प्राणिमात्र के प्रति प्रेम, स्नेह, संवेदना और सद्भाव रखें। उत्तम सत्संगति प्राप्त करें। अपनी शक्तियों का सदुपयोग करें। परमपिता की महान् शक्ति के सम्मुख अहंकाररहित नम्र भावना को प्रकट करें।

चोरी-चकारी, लूट-पाट, दुराचार, व्यभिचार, मद्यपान, जुआ, गर्भपात आदि कुकर्मों से बचें। सदाचार की मर्यादा के अनुसार आचरण करें। उत्तम व्रतों और नियमों का सदा पालन करें। पुरुषार्थी बनें, निर्भय रहें, माता-पिता और गुरु की सदा सेवा करें, उन्हें ही अपना परमात्मा मानें। परमात्मा सभी का रक्षक, पालनकर्ता और सभी को स्नेह करने वाला है। उसका गुणगान करते हुए अपना जीवन चलायें। ऐसा करने से ही आत्मोन्नति सम्भव है और सुख-शान्ति का मार्ग प्रशस्त होता है।

अथर्ववेद की तान्त्रिक-शक्ति

अथर्ववेद की रहस्य विद्या में निरामय—सुखी जीवन बिताने, सद्गति प्राप्त करने, इच्छाओं की पूर्ति करने आदि के अनेकानेक विधान हैं। मानव-जीवन का प्रत्येक पक्ष इसमें समाहित हैं, जिसे संवारने का कार्य ऋषियों ने पूरी लगन के साथ किया है। धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष प्राप्त कराने के लिए अथर्ववेद में तन्त्र-विज्ञान के साधन उपलब्ध हैं।

वेद स्वतः प्रमाण हैं। उनके रहस्य को प्रकट करने के लिए किसी बाह्य साहित्य की आवश्यकता नहीं है। यहां पर ज्ञान-विज्ञान दोनों का सम्मिलन है। अथर्ववेद में 33 देवताओं का वर्णन किया गया है (10/7/27) इन देवों को अथर्ववेद विश्व ब्रह्माण्ड का पालनकर्ता (10/7/23) मानता है। ये सभी देव 'तन्त्र-शक्ति' के जनक हैं।

अथर्ववेद की तन्त्र-शक्ति एक सशक्त अन्तः प्रक्रिया है। मन्त्रों के प्रयोग से जैसा संकल्प किया गया है, वैसी ही शक्ति उत्पन्न होती है। जब किसी भूत-प्रेत अथवा व्याधिग्रस्त व्यक्ति पर इन मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है, तो पीड़ित करने वाली मृतात्मा साधक के सामने साक्षात् आ खड़ी होती है। साधक उससे साक्षात् प्रश्न करता है और उसे मन्त्र-शक्तियों के द्वारा वश में करके व्याधिग्रस्त व्यक्ति को बाधा-मुक्त करता है। यह शक्ति प्राण-शक्ति की साधना से ही प्राप्त की जाती है।

अथर्ववेद की तन्त्र-शक्ति केवल भौतिक लक्ष्यों तक या रोगों को दूर करने तक ही सीमित नहीं है। इस शक्ति की साधना का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। इसका सीधा सम्बन्ध योग-साधना और अध्यात्म-साधना से जुड़ा हुआ है। इस तान्त्रिक शक्ति द्वारा विविध ऊपरी हवा के रोग, भूत-प्रेत-बाधा, कष्ट, दारिद्र्य, वशीकरण, मणिबन्ध, टोना-टोटका आदि का समाधान किया जा सकता है।

अथर्ववेद में इसके द्वारा समाधान करने की प्रक्रिया के बारे में उल्लेख करते हुए ऋषिगण का कहना है कि मनुष्य के शरीर के प्रत्येक भाग में प्राण-शक्ति का संचार अबाध रूप से होता रहता है, किन्तु जब किसी अंग में सह संचार अवरुद्ध

हो जाता है, तब उसी स्थान पर रोग उत्पन्न हो जाता है। अथर्ववेद में दिये गये मन्त्रों

के प्रयोग से ऐसे लाइलाज रोगों का उपचार आसानी से हो जाता है।

अथर्ववेद का तान्त्रिक प्राण-शक्ति की संचार-गति का सूक्ष्मता के साथ अवलोकन करता है और रोग का निदान मन्त्रों द्वारा करता है। शरीर में 82,000 नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है, जिनका मुख्य केन्द्र हाथ, पैर और सिर में होता है। अथर्ववेद के मन्त्रों का प्रायोजक रोगी के सिर पर हाथ फेरकर या उसके हाथों को अपने हाथों में में लेकर अपनी अन्तःप्रेरणा से जान जाता है कि प्राण-शक्ति का अवरोध कहां पर है। प्रायोजक उसी के अनुसार मन्त्र का चयन करके रोगी का उपचार करता है।

यदि किसी व्यक्ति के पेट में भयानक दर्द है, तो निश्चित रूप से यकृत में सूजन होगी या तिल्ली में पीड़ा होगी। हृदय में चसक उठती है या उसे रक्त की उल्टियां होती हैं, तो ऐसे व्यक्ति का उपचार मणिबन्ध तथा मन्त्र-आदेश से किया जाता है।

अथर्ववेद की 'प्राण-विद्या' रहस्यमयी विद्या है। इस प्राण-विद्या के द्वारा शरीर की चेतन-अवचेतन क्रियाओं को नियन्त्रित किया जाता है।

पण्डित देवदत्त शास्त्री ने 'शरीर-तन्त्र' का बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। उनका कहना है कि मनुष्य का शरीर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तथा पांच कर्मेन्द्रियों और पांच ज्ञानेन्द्रियों से निर्मित है। इसमें हृदय है, कुण्डलिनी है, षट्चक्र हैं, सहस्रार चक्र हैं। ऐसे उत्तम शरीर को वेदों में, उपनिषदों में ब्रह्मपुरी कहा गया है और इस पुरी में निवास करने के कारण 'ब्रह्म' को 'पुरुष' कहा गया है।

ऊर्ध्वो नु सृष्टा उस्तिर्यङ् नु सृष्टा ३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवां ३।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते॥

(अथ. 10/2/22)

अर्थात् ऊंचा उत्पन्न होता हुआ और तिरछा उत्पन्न होता हुआ वह पुरुष सब दिशाओं में यथावत् व्याप्त है। जो मनुष्य ब्रह्म की उस पुरी को जानता है,उसी से वह उसे परमेश्वर, पूर्णपुरुष, अर्थात् 'पुरुषोत्तम' मानता है।

यह अनन्त ब्रह्माण्ड ब्रह्म की रचना है। मनुष्य का शरीर इस ब्रह्माण्ड की ब्रह्मपुरी है। शरीर की इस प्रकार की दिव्यता वर्णन करने के पीछे अथर्ववेद का प्रयोजन यही है कि रोग, दोष, पाप, शाप तथा दुर्भाग्य से बचने के लिए प्रत्येक व्यक्ति को शरीर की दिव्यता का ज्ञान अवश्य रखना चाहिए। उसे मल, मूत्र, मेदा, मज्जा, रोग-दोष का ही केन्द्र नहीं समझना चाहिए और न जरा-जीर्ण होने वाला समझकर वह उसकी उपेक्षा ही करे। शरीर के रोम-रोम में ईश्वर का वास है, यही समझकर उसके प्रति श्रद्धा रखनी चाहिए।

अथर्ववेद इस शरीर को सभी प्रकार की शारीरिक, मानसिक और दैविक व्याधियों से बचाने के उपाय तन्त्र-साधना द्वारा बताता है। यहां पर सभी पूर्वकृत अथवा ऐहिक पापों से उत्पन्न व्याधियों को दूर करने के लिए 'यातुकर्म' और 'धर्मकर्म' का प्रयोग बताया गया है।

प्राय: भारतीय विद्वान् और पाश्चात्य विद्वान्, 'यातुकर्म' को 'जादू,' 'इन्द्रजाल,' 'टोना-टोटका' आदि मानने लगते हैं, परन्तु ऐसा नहीं है। पार्थिव पदार्थों की प्राप्ति के लिए किये जाने वाले अथर्ववेदीय प्रयोग 'यातुकर्म' कहलाते हैं। इसके अतिरिक्त 'ज्ञान योग,' 'भक्ति योग' और 'ध्यान योग' द्वारा किये जाने वाले कर्म 'धर्मकर्म' कहलाते हैं। सारांश यही है कि 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति के लिए 'यातुकर्म' और 'मोक्ष' की प्राप्ति के लिए 'धर्मकर्म' किया जाता है।

अथर्ववेद में भूत-प्रेत, टोने-टोटके और शत्रुविनाश आदि के लिए किये जाने वाले तान्त्रिक प्रयोगों को 'अभिचारिक कर्म' अथवा 'कृत्या प्रतिहारक' कहा जाता है। इस प्रकार के प्रयोगों में वे मन्त्र आते हैं, जो प्रतिद्वन्द्विता के सूचक हैं। इन मन्त्रों में देवों का आह्वान करके रोगों और दोषों का निवारण करने की प्रार्थना की जाती है।

मन्त्र विद्या

अथर्ववेद में 'मन्त्र विद्या' को पांच भागों में विभाजित किया है।

1. संकल्प अथवा आवेश मन्त्र। 2. अभिमर्षण अथवा मार्जन मन्त्र। 3. आदेश मन्त्र। 4. मणिबन्धन मन्त्र। 5. कृत्या अथवा अभिचार मन्त्र।

संकल्प मन्त्रों में दु:स्वप्न, दु:ख, दुष्प्रवृत्तियों में रत, पाप, शाप आदि के प्रभाव को दूर करने के लिए मन्त्रों का प्रयोग किया जाता है। इसमें प्रायोजक रोगी अथवा दुखी प्राणी के सिर पर हाथ रखकर मन्त्र पढ़ते हुए रोगी को नीरोग और सुखी होने का संकल्प कराता है। इसमें एक प्रकार से 'शक्तिपात' कराया जाता है। 'शक्तिपात' कराना सरल नहीं होता। इसके लिए प्रायोजक को साधना द्वारा एकाग्रता प्राप्त करनी होती है, तभी वह रोगों को और दोषों को दूर करने में समर्थ हो सकता है। आत्मशक्तिसम्पन्न प्रायोजक ही 'संकल्प' मन्त्रों का प्रयोग कर सकता है।

अभिमर्षण या मार्जन मन्त्रों में रोगी अथवा दोषी व्यक्ति के शरीर का स्पर्श करके मन्त्र पढ़े जाते हैं। 'अभिमर्षण' का अर्थ है, दोनों हाथों की अंगुलियों से रोगी के शरीर के अंगों को ऊपर से नीचे तक स्पर्श करना। ऐसा करने से रोगी के शरीर में प्रयोक्ता द्वारा विद्युत् तरंगें प्रक्षेपित हो जाती हैं। सारे शरीर में सनसनाहट होने लगती है। शरीर रोमांचित होकर स्वस्थ हो जाता है। दिल के दौरे में, उच्चरक्तचाप, व वज्राघात आदि में यह मन्त्र-क्रिया तत्काल प्रभाव डालती है।

आदेश मन्त्रों में मन्त्रों की भावना के अनुसार रोग, दोष, मानसिक विकार आदि को दूर किया जाता है। अथर्ववेद में इसे 'संवशीकरण' भी कहा गया है। चंचल प्रवृत्ति के लोगों पर इसका प्रयोग तत्काल प्रभाव डालता है। घमण्डी और पागलपन लिये हुए व्यक्तियों पर आदेश मन्त्रों का सीधा प्रभाव पड़ता है। अंगरेजी में इसे 'हिप्नोटाइज़्म' कहते हैं, अर्थात् 'सम्मोहन' द्वारा रोगी की चित्तवृत्तियों को वश में करके उसे आदेश देना।

इन आदेश मन्त्रों द्वारा पागलों, उद्दण्ड लोगों, डाकुओं, हत्यारों, दुराचारियों, नशाख़ोरों, आलसियों, ईर्ष्यालुओं, चिन्तातुरों आदि को अपने वश में किया जा सकता है। घातक और असाध्य रोगों को भी आदेश मन्त्रों द्वारा ठीक किया जा सकता है।

मणिबन्धन मन्त्रों में युद्ध में विजय, शत्रु-पराजय, अनिष्ट, दुर्भाग्य, पाप, शाप आदि को सिद्ध करने और उनसे बचने का उपाय किया जाता है। 'मणि' का तात्पर्य अथर्ववेद में लताओं, वृक्षों की जड़ों, फूल-फल और बीज आदि को अभिमन्त्रित करके तावीज़ आदि में भरकर शरीर के किसी अंग में बांधना होता है या शत्रु पर फेंका जाता है।

कृत्या अथवा अभिचार मन्त्रों में मारण, मोहन, उच्चाटन, कीलन, विद्वेषण और वशीकरण के मन्त्र आते हैं। अथर्ववेद में इनके प्रभाव को दूर करने के लिए 32 मन्त्रों द्वारा हवन करने का विधान बताया गया है। ये सभी कर्म 'अरिष्ट' में आते हैं। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है कि कृत्या या अभिचारविषयक मन्त्रों में देवों का आह्वान किया जाता है। अथर्ववेद के 2/14वें सूक्त में तथा 3/9वें सूक्त में इन मन्त्रों का उल्लेख है। यहां कष्ट-निवारण के लिए देवों और भूत-प्रेतों का आह्वान किया जाता है। इस प्रकार के तन्त्र-प्रयोग अभिचारिक या कृत्या प्रतिहारक कहे जाते हैं।

'स्त्रीवशीकरण' के लिए अथर्ववेद में अनेक मन्त्रों का प्रयोग हुआ है। अथर्ववेद के 3/25, 4/5, 6/13, 7/90 सूक्तों में ऐसे मन्त्र दिये गये हैं। ये वशीभूत करने के अमोघ सिद्ध मन्त्र हैं।

इस प्रकार मनुष्य के चित्त, हृदय और मन को वश में करने के लिए तन्त्र-विद्या का प्रयोग किया जाता है। दाम्पत्य-जीवन की सुख-समृद्धि के लिए इस तन्त्र-शक्ति का प्रयोग अथर्ववेद में स्थान-स्थान पर किया गया है।

अथर्ववेद में 'भूत, प्रेत, पिशाच' की बाधा दूर करने के लिए 2/14/3 मन्त्रों का प्रयोग किया गया है। 'गृह, पशु और मनुष्यों की सुरक्षा' आदि के लिए 3/9/4 मन्त्रों को देखना चाहिए।

'विवाह योग्य कन्या के विवाह के लिए' 2/36/6-60 के मन्त्रों का प्रयोग

करना चाहिए। 'पति-पत्नी के बीच मनमुटाव' को दूर करने के लिए अथर्ववेद के 6/133 सूक्त के मन्त्रों का प्रयोग करना चाहिए।

'प्रतिद्वन्द्वी, प्रतिपक्षी, प्रतिद्वेषी, शत्रु, वादी, प्रतिवादी' को सम्मोहित करने के लिए अथर्ववेद के 3/1 सूक्त को सम्मोहन विधि से अभिमन्त्रित करना चाहिए।

अथर्ववेद में, भूत-प्रेतों द्वारा अभिचार कर्म करने वाले अथवा 'इन्द्रजाल' द्वारा अद्भुत कर्म करने वालों को 'यातुधान' कहा गया है। उनमें और राक्षसों में कोई भेद नहीं है।

अथर्ववेद में ओषधि-भेषज द्वारा आधि-व्याधि निवारण

अथर्ववेद में ओषधि, भेषज, आधि, व्याधि और रोग आदि के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। तभी इसके मन्त्रों का उपयोगी प्रभाव डालने का ढंग समझ में आ सकता है; क्योंकि हर कोई इन मन्त्रों का उचित प्रयोग नहीं कर सकता। कभी-कभी मन्त्रों का उलटा प्रभाव भी हो जाता है।

श्रद्धापूर्वक अथर्ववेद के मन्त्रों का जप करने से मन्त्र के अनुकूल फल की प्राप्ति होती है। अथर्ववेद में व्याधियों और दोषों के निदान का वर्णन प्रचुरता के साथ मिलता है। रोग के लक्षण आदि को अथर्ववेद में 'निदान' की संज्ञा दी गयी है। पण्डित देवदत्त शास्त्री ने ओषधि आदि की परिभाषा इस प्रकार की है।

ओषधि

ओषधि में 'ओष' का अर्थ 'रस' होता है। जो ओष, अर्थात् रस को धारण करे, वह 'ओषधि' है। रसप्रधान पदार्थ (ओषधि) शरीर और मन के दोषों व विकारों आदि को दूर करता है। उद्दीपन, पाचन, ओज, शक्ति, ऊर्जा आदि को बढ़ाने वाली और लेपन-बन्धन में काम अपने वाले रसायन को ओषधि कहते हैं।

भेषज

हठयोग, राजयोग, साम्ययोग, सांख्ययोग, हवन, यज्ञ, जप, अनुष्ठान, उपासना, आराधना, व्रत, उपस्थान, मार्जन, अवसेचन, अभिमर्षण, अभिमन्त्रणा, रक्षाकरण्ड बन्धन, मणिबन्धन, पुरोडाश, सर्षपप्रक्षेपण आदि मन्त्रों द्वारा व्याधियों को दूर करने की क्रिया 'भेषज' हैं।

रोग

शरीरगत धातुओं को क्षीण करने वाले, नाड़ियों, प्राणों, इन्द्रियों को शिथिल, दुर्बल और निष्क्रिय बनाने वाले, प्रगति और अभ्युदय के बाधक 'उपताप' का नाम 'रोग' है।

आधि

सूक्ष्मतम, मानसिक उपताप का नाम 'आधि' है। मन से सम्बन्धित सभी रोग 'आधि' के अन्तर्गत आते हैं।

व्याधि

प्राण, मन, अन्तःकरण, चित्त और बौद्धिक उपताप को व्याधि कहा जाता है। व्याधियां दो कारणों से जन्म लेती हैं—एक 'उत्पत्ति दोष' के कारण और दूसरे 'मिथ्या आहार-विहार' के कारण।

अथर्ववेद की प्रमुख व्याधियां और मृत्यु

अथर्ववेद में मुख्य रूप से पांच प्रकार की 'मृत्यु' बतायी गयी है—देवों (सदाचारी, विद्वानों) के शाप से, प्रेताग्नि से, अराति (शत्रु) द्वारा, निर्ऋति (दुर्गति) से और दीर्घकालीन रोगों से मृत्यु होती है।

इसके अलावा छोटे-मोटे कारणों से 101 प्रकार की 'मृत्यु' बतायी गयी है। यथा पिशाच (रक्तचूस कीटाणु), राक्षस (कपटी व्यवहार करने वाले), दुर्भूत (चापलूसी, धूर्त, अवसरवादी, स्वार्थी), तमः (क्रूर, कुचाली, दुर्मुख, लोभी, कामी, अज्ञानी) द्वारा, अभिचार (मारण, मोहन, उच्चाटन, कीलन आदि), नाष्ट्राः (विषधारी जीवों के द्वारा, अस्त्र, प्रक्षेपास्त्र, विनाशक) द्वारा, शरीरं असवः आदि (विविध प्रकार की अकाल मृत्यु) द्वारा अकाल मृत्यु होती है।

'व्याधियां' पूर्वजन्म के अशुभ कर्मों के कारण होती है। इन्हें 'कर्मज व्याधियां' कहते हैं। ये हरण, अपहरण, हत्या, लूट, भ्रूणहत्या, अवैध गर्भपात, घृणा, ईर्ष्या, पापाचरण, कुटिल व्यवहार, पूर्वजनिन्दा, पर-स्त्रीगमन, झूठी गवाही, झूठी शपथ, धूर्तता आदि के कारण उत्पन्न होती है।

अथर्ववेद 'दुःस्वप्नों' को भी रोग का कारण मानता है। यही नहीं, अथर्ववेद में हरे वृक्षों को काटने, तोड़ने या उखाड़ने से आयु व यश घटता है तथा आपदाएं घेरती हैं। इस प्रकार अथर्ववेद में 'पर्यावरण' के बारे में भी सजगता दिखाई देती हैं।

रोग-शमन के उपाय

अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर सभी प्रकार के रोगों के शमन के लिए विशिष्ट पदार्थों और जड़ी-बूटियों का उल्लेख किया गया है। जैसे 'जल' और 'वनस्पतियों' द्वारा रोगों का निदान के लिए अथर्ववेद के 6/25, 6/91, 6/95, 19/44 सूक्तों के मन्त्रों में विधि बतायी गयी है।

'स्वास्थ्य' और 'दीर्घायु' के लिए 2/28, 3/11, 4/9/10, 5/30, 7/53, 8/1 और 19/26 सूक्तों के मन्त्रों को देखिये।

'अभिचार'(भूत-प्रेत-पिशाच) शमन के लिए अथर्ववेद के 2/14, 3/9, 5/7/8/28/29, 6/2/34, 7/110 मन्त्रों में प्रेतों, पिशाचों का संहार करने के लिए देवों का आह्वान किया गया है।

पुरुषों को वश में करने के लिए 1/34 सूक्त में उपाय बताया गया है। राज्य-शासन और शासक के यश को बढ़ाने तथा विजय प्राप्त कराने वाले मन्त्र अथर्ववेद के 1/19, 3/1, 3/2, 5/20/21, 6/97/99, 8/8, 11/9-10 सूक्तों में देखे जा सकते हैं।

'गर्भरक्षक' ओषधि (8/6/3) 'बज' है। आयुर्वेद में इसे 'काकजंघा' कहते हैं। रविवार के दिन इस ओषधि की लकड़ी गर्भवती स्त्री की कमर में बांध देने से गर्भपात कभी नहीं होता। गर्भस्राव तत्काल रुक जाता है। पीली सरसों भी गर्भस्थ शिशु की रक्षा करती है। यदि तीन महीने का गर्भ हो जाये, तो पीली सरसों गर्भवती की कमर में बांध देनी चाहिए। तब गर्भस्थ शिशु कन्या नहीं, पुत्र ही होता है।

'बन्ध्यापन' (बांझपन) दूर करने के लिए अभिमन्त्रित सरसों का प्रयोग किया जाता है। भाष्यकार सायण ने अथर्ववेद के भाष्य (8/6/18) में इसके सूक्त (8/6) की भूमिका में कौशिक सूत्र (35/20) के वचनों को उद्धृत करते हुए लिखा है कि गर्भिणी स्त्री के हाथ में पीली और सफ़ेद सरसों बांधने से गर्भपात नहीं होता। गर्भ पुष्ट होता है और पुत्र ही उत्पन्न होता है।

ये मात्र कुछ उदाहरण हैं, जो यहां दिये गये हैं, जबकि अथर्ववेद में भेषज सूक्तों का प्रचुर भण्डार भरा पड़ा है। अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों में रोगों के सामान्य कारणों का उल्लेख करते हुए उनके शमन की विविध प्रणालियों का उल्लेख किया गया है। अथर्ववेद में मन्त्रों द्वारा ही रोगों का शमन नहीं किया जाता, वहां 'आयुर्वेदीय चिकित्सा' का भी विधान बताया गया है।

आयुर्वेदिक चिकित्सा

'आयुर्वेदीय चिकित्सा' में 'आश्वासन चिकित्सा', 'उपचार चिकित्सा', 'सूर्य-किरण चिकित्सा', 'जल चिकित्सा', 'अग्नि चिकित्सा', 'केशरोग चिकित्सा', 'शिरोरोग चिकित्सा', 'मानसिक रोग चिकित्सा', 'भूतोन्माद रोग चिकित्सा', 'अपस्मार' (मृगी, मूर्च्छा) चिकित्साएं, 'नेत्ररोग चिकित्सा', 'कासरोग' (खांसी, दमा) चिकित्सा, 'अपची (गण्डमाला) चिकित्सा' आदि का विशद विवेचन प्राप्त होता है।

उपरोक्त रोगों के अतिरिक्त अथर्ववेद में हृदयरोग, श्वासरोग, शूलरोग, अंगरोग, बाजीकरण, कृमिरोग, वातरोग, क्षयरोग, चर्मरोग आदि का भी पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है।

इस प्रकार देखा जाये तो अथर्ववेद में रहस्य-ही-रहस्य भरा हुआ है। साधारण ज्ञान द्वारा इसमें छिपे रहस्य को समझना अत्यन्त कठिन है। इसे समझने के लिए भरपूर अध्ययन और साधना की आवश्यकता है। एक ही सूक्त अथवा मन्त्र के भिन्न-भिन्न अर्थ और प्रयोजन बताये गये हैं। इन मन्त्रों के साधारण अर्थ

पर नहीं जाना चाहिए। यदि एक ही मन्त्र में जलाभिमन्त्रण का संकेत है, तो वहीं दूसरे अर्थ में सौत को मार्ग से हटाकर पति को अपना बनाने का भाव प्रकट होता है तथा साथ ही इसके द्वारा रोग-दोष दूर करने का अर्थ निकलता है। इस प्रकार अथर्ववेद के मन्त्रों में 'श्लेष' का प्रयोग स्थान-स्थान पर देखने को मिलता है। सही अर्थ समझने में कठिनाई आती है।

अथर्ववेद के अनुसार 'ग्लानि', 'क्लेश', 'दुःख' और 'संकट' ऐसे दोष हैं, जिनका उपचार किसी चिकित्सा पद्धति में नहीं है। साथ ही सूक्ष्म प्राणतत्त्व व वासना आदि से सम्बन्धित दोषों का निराकरण भी किसी औषधि से सम्भव नहीं है। ये रोग-दोष अथर्ववेदीय आथर्वणी और आङ्गिरसी भेषज द्वारा शमन किये जाते हैं।

'आथर्वणी' और 'आङ्गिरसी भेषज' से अकालमृत्यु, अपमृत्यु, आकस्मिक दुर्घटना, बाल्यावस्था तथा युवावस्था में मृत्यु को प्राप्त होना, अधःपतन, दिवालिया हो जाना, मानसिक रोग, पागलपन, उन्माद, वंशनाश आदि आधि-व्याधियां, कुल-परम्परा के दोष, शाप, घातक मारण और सर्वनाश आदि द्वारा सब कुछ तहस-नहस कर डालने वाले रोगों का शमन होता है। 'प्राण' के अन्दर एक ऐसा 'दिव्य भेषज' होता है, जो सहज ही शरीर के अनेकानेक रोगों को नष्ट कर डालता है। यह प्राण-तत्त्व की सहज प्रक्रिया है। प्राण को ही 'रुद्र' कहा गया है। रुद्र का एक अर्थ 'वैद्य' भी है। अथर्ववेद में कहा गया है कि 'प्राण में ओषधि' है। जब कोई इस प्रकार सोचता है कि वह अपनी प्राणशक्ति से अपने रोगों को दूर करके नीरोग बनेगा, तब उसकी आत्म-शक्ति निश्चित रूप से उसे शनैः-शनैः नीरोग कर देती है। यह आत्मविश्वास की बात है। उसके यह विश्वास ही उसे नीरोगी होने में उसकी सहायता करता है। वस्तुतः 'प्राण' ही जीवन और मृत्यु का कर्ता है, नियन्ता है।

अथर्ववेद का उपदेश है—'**भेषजं सेवस्व। त्वा जरदष्टिं कृणोमि**', अर्थात् उपयुक्त औषधि का सेवन और पथ्य करने से स्वास्थ्य और दीर्घायु प्राप्त होती है तथा रोग दूर होते हैं।

अथर्ववेद में राजनीतिक जीवन

अथर्ववेद में राजा को देवता का स्वरूप माना गया है। राजा के सन्दर्भ में अथर्ववेद में राजा के कर्तव्य, राज्य के कर्तव्य, राज्य के भेद, उत्तम राजा के गुण, राजा का व्यवहार, राजस्व, राजसभा, ग्राम समितियां, स्वराष्ट्र शासन, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध, राष्ट्र, छत्र, विश, विशपति, संसद और ग्रामसभा आदि का विशद वर्णन प्राप्त होता है। इससे अथर्ववेदोय काल की राजनीतिक अवस्था तथा तात्कालिक जीवन पर प्रकाश पड़ता है।

अथर्ववेद में ही 'मातृभूमि' की कल्पना पहली बार की गयी है। यह कल्पना अथर्ववेद के 'भूमि सूक्त' में है। राष्ट्र की उत्पत्ति परमात्मा से मानी गयी है। राष्ट्र की स्थिति को सुदृढ़ और सुसम्पन्न बनाने की नीतियों का विश्लेषण अनेक मन्त्रों में हुआ है।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्मं यज्ञः पृथिवी धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥

(अथ. 12/1/1)

अर्थात् राज्य में सत्यकर्मी, सत्यज्ञानी, जितेन्द्रिय, ईश्वर और विद्वानों से प्रीति करने वाले चतुर पुरुष पृथिवी पर उन्नति करते हैं। यह नियम (सभी राज्यों में) भूत और भविष्य के लिए सदा समान है।

भाव यही है कि राष्ट्र को सर्वोत्तम बनाने के लिए उपरोक्त गुणों को धारण करने वाले पुरुषों का होना अत्यन्त आवश्यक है। जनता की तेजस्विता, वीरता, शौर्य, श्रेष्ठ चरित्र और पुरुषार्थ पर ही राष्ट्र का गौरव टिका रहता है।

वही राष्ट्र उत्तम है, जिसमें नाना वर्णों, जातियों और धर्मों के लोग एक परिवार की भांति रहते हैं—(12/1/15) राजा और प्रजा दोनों के पारस्परिक सहयोग से ही राष्ट्र का अभ्युदय होता है।

जिस राष्ट्र का समाज अपने आत्मघाती दोषों को त्यागकर कृषि और वाणिज्य में तथा उद्योगों में पुरुषार्थ से कर्म करता है, वह राष्ट्र सदैव श्रीसम्पन्न रहता है।

सामाजिक जीवन

अथर्ववेद में मनुष्य के सामाजिक जीवन पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है। सामाजिक संगठन का पूरा ब्योरा यहां प्राप्त होता है। परिवार और उसके कर्तव्य, सामाजिक आचार-विचार, व्यवहार, वस्त्र, रहन-सहन, दिनचर्या, खाद्य-पदार्थों का संग्रह, जल, पेयजल, कृषिजल, कृषिभूमि, पशुपालन, गौरक्षा, नारी-जीवन, दाम्पत्य-जीवन, घर की व्यवस्था, मनोरंजन, शिक्षा आदि पर भी अथर्ववेद में व्यापक प्रकाश डाला गया है।

धार्मिक जीवन

अथर्ववेद ने मनुष्य के धार्मिक जीवन को अत्यन्त सूक्ष्मता के साथ स्पर्श किया है। यज्ञ और ईश्वरीय आराधना प्रत्येक व्यक्ति का कर्म ही नहीं, धर्म है। उसके नित्य-नैमित्तिक क्रियाकलाप, अनुष्ठान, संस्कार, देवता की पूजा, ईश्वर में विश्वास, आत्मा में परमात्मा के स्वरूप का दर्शन प्रचुर मात्रा में अधिकांश मन्त्रों में प्राप्त होता है।

यदि साधारण रूप से भी देखा जाये, तो अथर्ववेद के प्रायः सभी मन्त्रों में

ईश्वर की आराधना के ही दर्शन होते हैं। यहां द्वारा भूत, प्रेत, पिशाच, राक्षस, यातुधान, आसुरी शक्ति, ईश्वर आराधना, देवपूजा, सुख-समृद्धि की याचना आदि का खुलकर विवेचन हुआ हुआ है। 'धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष' की कामना अनेक मन्त्रों में की गयी है। अथर्ववेदीय जीवन पूर्णरूप से धार्मिक है। वहां जितने भी अनुष्ठान होते हैं, वे सब धर्म की परिधि में ही होते हैं।

अथर्ववेद में ज्योतिष-शास्त्र

वेदों में ऋग्वेद और यजुर्वेद की भांति अथर्ववेद में भी ज्योतिष-शास्त्र का विस्तृत विवेचंन हुआ है। अथर्ववेद के उन्नीसवें काण्ड में इसका विशद वर्णन उपलब्ध होता है। वहां नक्षत्रों की गणना सूक्ष्म रूप से की गयी है और अनेकानेक ऐसे ज्योतिषीय सिद्धान्त प्रस्तुत किये गये हैं, जिन्हें देखकर और उनका मनन करके चमत्कृत रह जाना पड़ता है।

ज्योतिष-शास्त्र का प्राचीनमत ग्रन्थ 'लगध' माना जाता है, जो कि प्राप्य है। यह ग्रन्थ लगध नाम के ऋषि पर ही है। लगध ऋषि को ऋग्वेद ज्योतिष और यजुर्वेद ज्योतिष का संग्रहकर्ता माना जाता है। उनके 'लगध ज्योतिष' में ऋग्वेद पर आधारित 36 कारिकाएं हैं और यजुर्वेद ज्योतिष पर आधारित 49 कारिकाएं हैं।

अथर्ववेदीय संहिता में, 'अथर्ववेद ज्योतिष' (सोमसुधाकर द्वारा रचित भाषा) तथा भाष्यकार सायण द्वारा रचित 'सोमसुधाकर भाष्य' में ज्योतिष सम्बन्धी 162 मन्त्रों का विवरण है। इन मन्त्रों में सायण ने अथर्ववेदीय फलित ज्योतिष के अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का उल्लेख किया है।

फलित ज्योतिष सम्बन्धी अथर्ववेद की 'शौनकीय शाखा' के 90, 91, 93, 103, 104, 105, 106, 107, 108 सूक्तों में तिथि, नक्षत्र, वार, करण, योग, तारा और चन्द्रमा के क्रम से 1, 4, 8, 16, 32, 60 और 100 उत्तरोत्तर गुण बताये गये हैं। साथ ही 'वार' के स्वामियों का भी उल्लेख हुआ है। जन्म लेने वाले जातक के गृह-नक्षत्रों को लेकर बहुत ही वैज्ञानिक ढंग से फल बताया गया है।

नक्षत्रों के अतिरिक्त राशियों का भी खगोलीय वर्णन अथर्ववेद में प्रास होता है। उत्तरवैदिककाल के ज्योतिष ग्रन्थ—'वृहत्पाराशरहोराशास्त्र' के उपसंहार क्रम-सूची में ग्रह, गुण, स्वरूप, राशि-स्वरूप, विशेष लग्न, षोडश वर्ग, राशि-दृष्टि कथन, अरिष्टाध्याय, अरिष्टभङ्गादि में तथा आकाश में स्थित 'भचक्र' के 360°, अर्थात् 108 भाग तथा समस्त 'भचक्र' 12 राशियों में विभक्त है।

इस अथर्ववेदीय खगोल विद्या के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि 30° अथवा 9 भाग की एक राशि होती है। यह 9 भाग अश्विनी आदि नक्षत्रों के 9 चरण होते हैं। इन्हीं की जाति, गुण और रूप आदि का यहां निरूपण किया गया है।

अथर्ववेद में ग्रह, उल्का, विद्युत्, भूकम्प, दिग्दाह का उल्लेख भी मिलता है और कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा को बलहीन मानकर अन्य ग्रहों के बलाबल से कार्यों का निर्देश भी उपलब्ध है।

इसी अथर्ववेदीय सिद्धान्त के आधार पर आचार्य 'वराहमिहिर' ने अपने 'पञ्चसिद्धान्तिका' ग्रन्थ में पांच सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन किया है।

अथर्ववेदीय प्रश्न ज्योतिष

पण्डित देवदत्त शास्त्री ने अथर्ववेदीय प्रश्न ज्योतिष का उल्लेख अपने ग्रन्थ 'अथर्ववेदीय तन्त्र विज्ञान' में किया है। उनके अनुसार अथर्ववेद में इस प्रश्न के अन्तर्गत 10 प्रश्नों का प्रावधान है—

1. अभीष्ट कार्य करने से लाभ होगा या नहीं?
2. युद्ध में, शास्त्रार्थ या विवाद में, द्यूत-क्रीड़ा में विजय होगी या नहीं?
3. रोगी रोगमुक्त होगा या नहीं?
4. नौकरी अथवा जीविका का व्यवसाय मिलेगा या नहीं?
5. अनुष्ठित साधना या मन्त्र-यन्त्र-तन्त्र की साधना सिद्ध होगी या नहीं?
6. नष्ट धन, अपहृत सम्पत्ति, चोरी गया धन, अपहृत या भागा हुआ प्राणी प्राप्त होगा या नहीं?
7. किसी भी प्रकार की परीक्षा में सफलता मिलेगी या नहीं?
8. वर को वधू या कन्या को योग्य वर मिलेगा या नहीं?
9. पुत्र की प्राप्ति होगी या नहीं?
10. उत्तम वर्षा, अच्छी फ़सल होगी या नहीं?

ऐसे अनेक भौतिक और आध्यात्मिक प्रश्नों के उत्तर अथर्ववेद के काण्ड 1, सूक्त 4 (अम्बयोमन्ति.) सूक्त 5 (आपोहिष्ठा.), सूक्त 6 (शन्नोदेवी.) से प्राप्त किये जाने का विधान है, जो शत-प्रतिशत सही होता है।

अथर्ववेदीय ज्योतिष के द्वारा दुष्ट ग्रहों का दोष-निवारण, गर्भ-दोष, सन्तति-दोष, वैधव्य योग, वन्ध्या योग, कर्म की सफलता-असफलता, विदेश यात्रा, प्रवासी सम्बन्धी प्रश्न, विवाह सम्बन्ध, शुभाशुभ ज्ञान, मूल नक्षत्र दोष और उनकी शान्ति का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। प्रश्नों के उत्तरों के साथ-साथ और उनके समाधान की विधियां भी बतायी गयी हैं।

वास्तव में अथर्ववेद में शकुन-अपशकुन और अद्भुत घटनाओं का वैज्ञानिक ज्ञान प्राप्त होता है। भूकम्प, ज्वालामुखी, महाविनाश, महामारी, पारस्परिक कलह, युद्ध व उल्कापात आदि घटनाओं का पूर्वज्ञान अथर्ववेदीय ज्योतिष से प्राप्त किया जा सकता है।

अथर्ववेद में शकुन-अपशकुन सम्बन्धी परम्पराओं का प्रादुर्भाव दैवी भावना का अनिवार्य अंग बन गया है। अथर्ववेद में इनका विवरण व्यापक रूप से मिलता है।

अथर्ववेद का पृथिवी सूक्त

एक बालक का अपनी माता के साथ जैसा सम्बन्ध होता है, वैसा ही हमारा सम्बन्ध क्षमाशील जननी पृथिवी के साथ है। पृथिवी माता का हृदय अमृत से भरा है। यह अमृत रस उस परमपिता परमात्मा का दिया हुआ है,जो समस्त ब्रह्माण्ड में छाया हुआ है।

हमारे सम्मुख पृथिवी माता का केवल स्थूल रूप ही है, जिस पर अनेक विशाल समुद्र, पर्वत, नदियां, वन, रेगिस्तान, वनस्पति, हिमशिखर आदि स्थित हैं। ये सभी मानव-जीवन के लिए कल्याण की वृष्टि करने वाले हैं। प्रकृति का यह असीम सौन्दर्य मानव-जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के लिए उपयोगी है।

पृथिवी पर फैले विशाल चारागाह, कृषि-सम्पन्न भूमि, उमड़ते-घुमड़ते बादल, विविध ऋतुएं—ग्रीष्म, वर्षा, शरद, हेमन्त, शिशिर और वसन्त—आदि सर्वत्र मनोहारी छटा बिखेरती रहती हैं।

पृथिवी के गर्भ से निकले अन्न के दाने, खनिज पदार्थ, नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्न, सोना, चांदी, हीरे-जवाहरात, हमारी श्रीवृद्धि करते हैं। अनेक दुधारू पशु, रंग-बिरंगे पक्षी, जलचर, कीट-पतंग सभी तो इस धरती पर आश्रय लेते हैं।

पृथिवी माता का रम्य भौतिक स्वरूप सभी के लिए प्रत्यक्ष है। भौतिक समद्धि का जो भी स्वरूप है, वह इस पृथिवी पर ही प्राप्त होता है।

पृथिवी मेरी माता है और मैं उसका पुत्र हूं—

'माता भूमि पूत्रोऽहं पृथिव्याः।'

(मन्त्र 12 पृथिवी सूक्त)

पृथिवी पर निवास करने वाले अनेकानेक जीव अनेक समूहों और वर्गों में विभाजित हैं। फिर भी वे सभी एक सूत्र में बंधे हैं। मनुष्य, मनुष्य हैं, पशु, पशु हैं, पक्षी, पक्षी हैं, जलचर, जलचर हैं। 'अनेकता में भी एकता' का संगीत समस्त पृथिवी पर फैला है। यही सब प्राणियों को इस पृथिवी से बांधे हुए है।

जीवन की मधुमय झंकार से झंकृत, दिव्य अनुभूतियों से भरा हुआ एकता के महान् सन्देश को प्रवाहित करता हुआ उस सत्ता का सत्य स्वरूप यह 'पृथिवी सूक्त' अथर्ववेद ही नहीं, विश्व साहित्य का सर्वोच्च गान है।

□□

ईश्वर के प्रतीक
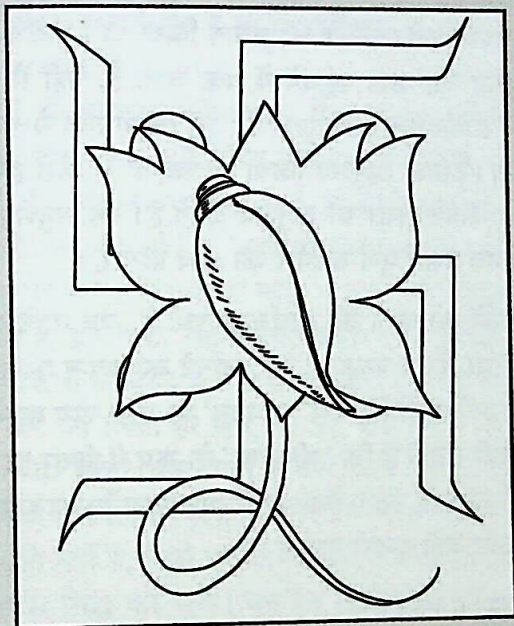
"जो स्वयं ज्ञाता है, प्रमाता है, चैतन्य ज्योतिस्वरूप है, सबका प्रकाशक और स्वयं प्रकाश है, वह किसी की बुद्धि में कैसे समा सकता है? वह अतर्क्य है, अज्ञेय है, फिर भी अपने होने का संकेत हर क्षण, हर पल देता है। वही ईश्वर है। वैदिक संहिताओं में परमेश्वर का वाचक मुख्य शब्द 'पुरुषोत्तम' है। वह सबका कारण है और स्वामी है।"

ईश्वर का स्वरूप

"वैदिक ऋषियों ने परम सत्ता में निष्काम भाव से समर्पित भक्ति-भाव में ईश्वर को खोजने का प्रयत्न किया था। उन्होंने कहा कि हमारी बुद्धि जहां तक पहुंचने में थक जाती है, वहीं से ईश्वर के विलक्षण संकेत प्राप्त होने लगते हैं। उसे किसी तर्क से समझा नहीं जा सकता। उसका अनुभव किया जा सकता है। जैसे हम हवा के स्पर्श को, अपने शरीर पर अनुभव करते हैं। यह अनुभव तभी हो पाता है, जब उसमें पूर्ण समर्पण का भाव होता है।

वेद मन्त्रों को पढ़ने की सार्थकता तभी है, जब पढ़ने वाला उस 'परमपद' पर स्थित परमात्मा को, जानने का प्रयत्न करता है। वेद मन्त्रों की अन्तिम सिद्धि उस 'परमपद' के साथ योग करने की है। वेद हमें यही बताते हैं कि 'जीवात्मा' के रूप में ईश्वर हर पल, हर क्षण, सोते-जागते, उठते-बैठते हमारे साथ रहता है। वह हमारा जीवन रक्षक है और वही हमारी मृत्यु है।"

'ब्रह्मसूत्र' में कहा है—

'जन्माद्यस्य यतः'

'शास्त्रयोनित्वात्'

अर्थात् जिससे उत्पत्ति, स्थिति और पालन होता है, वह ईश्वर है। शास्त्र का कारण होने से, अर्थात् जो शास्त्र का उत्पादक है तथा शास्त्र द्वारा प्रमाणित है, वह ईश्वर है।

ईश्वर अतर्क्य है

ईश्वर क्या है, उसका वास्तविक स्वरूप क्या है, वह निराकार है या साकार, वह जड़ है अथवा चेतन, वह निर्गुण है या सगुण तथा इस जीवन और जगत् के साथ उसका क्या सम्बन्ध है?

ये ऐसे प्रश्न हैं, जिनका उत्तरवैदिककाल से आज तक खोजा जाता रहा है, किन्तु कोई भी एक निश्चित मत प्रतिपादित नहीं कर सकता कि ईश्वर क्या है? उसे 'अनुभवगम्य' और 'गूंगे के गुड़ का स्वाद' तो सभी कहते हैं, परन्तु उसका यथार्थ स्वरूप क्या है, कैसा है, कोई भी बताने में समर्थ नहीं है। ईश्वर मनुष्य की बुद्धि से परे है। वह परम तत्त्व मनुष्य की बुद्धि में नहीं समा सकता।

जो स्वयं ज्ञाता है, प्रमाता है, चैतन्य ज्योतिस्वरूप है, सबका प्रकाशक और स्वयं प्रकाश है, वह किसी की बुद्धि में कैसे समा सकता है? वह अतर्क्य है, अज्ञेय है, फिर भी अपने होने का संकेत हर क्षण, हर पल देता है।

हमारी बुद्धि जहां जाकर थक जाती है और आगे बढ़ पाने में असमर्थ हो जाती है, वहीं से ईश्वर के विलक्षण संकेत मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। वह जगत् के किसी पदार्थ की भांति नहीं है, जिसे हम अपने नेत्रों से देख सकें, त्वचा से स्पर्श कर सकें और तर्क से सिद्ध कर सकें। वह इन सभी से परे है। उसका केवल अनुभव किया जा सकता है और यह अनुभव उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा, साधना एवं योग तथा सहज और समर्पित भक्ति-भाव से ही सम्भव हो सकता है।

वैदिक ऋषियों ने इस सहज और निष्काम भावना के बल पर ही ईश्वर को जानने का प्रयत्न किया था। जैसे आज हम कल्पना से ईश्वर की कोई मूर्ति निर्मित करके उसकी आराधना करने लगते हैं, उसी प्रकार वैदिक ऋषियों ने इस चराचर ब्रह्माण्ड में व्याप्त प्रकृति के विविध रूपों में ईश्वर की कल्पना की थी। वही परम्परा उत्तरवैदिककाल में भी चलती रही, पर उसे कोई जान नहीं सका। सभी साधक केवल उसके विविध स्वरूपों का ही उद्घाटन करने का प्रयत्न करते रहे। उसे जानने और समझने के अनेकानेक दम्भ प्रदर्शित किये गये, पर यथार्थ में कोई भी उस अनन्त शक्ति के अनन्त स्वरूप को समझ नहीं सका।

वेदों में ईश्वर की स्तुति 'अग्नि,' 'सूर्य,' 'चन्द्र,' 'इन्द्र,' 'मरुत,' 'सविता'

'वरुण,' 'रुद्र,' और 'विष्णु' आदि देवगणों के माध्यम से की गयी है। वहां ऋषियों को जो पदार्थ भी उपयोगी लगा है और जिसके द्वारा प्राणिमात्र का कल्याण होता है, वही उनके लिए परमशक्ति ईश्वर का प्रतीक है।

कतिपय वर्तमान विद्वानों का मत है कि वेदों में 'ब्रह्म', 'परमात्मा' अथवा 'ईश्वर' सम्बन्धी कोई विचार नहीं है। परमात्माविषयक कल्पना उपनिषदों में पहली बार की गयी और ईश्वर के सगुण रूप की उपासना पुराणों द्वारा विस्तृत हुई।

परन्तु जब हम प्राचीन भारतीय विद्वानों के कथन देखते हैं, तो ऐसा प्रतीत होता है कि 'वेद' समस्त विद्याओं का भण्डार हैं और उसमें ब्रह्म सम्बन्धी समस्त विद्याओं का समावेश है।

उपनिषदों में कहा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति
तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीमि॥ ओमित्येतत्।

(कठ. 1/2/15)

अर्थात् सम्पूर्ण वेद जिसका वर्णन करते हैं, सब तप जिसकी प्राप्ति के लिए किये जाते हैं और जिसके उद्देश्य से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है, वह (परमात्मा का) स्थान ओंकार से बोधित होता है।

यहां स्पष्ट कहा गया है कि सम्पूर्ण वेद-मन्त्र परमात्मा का ही वर्णन करते हैं। गीता में भी कुछ ऐसा ही भाव प्रस्तुत किया गया है—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।

(गीता 15/15)

अर्थात् वेदों के द्वारा मेरा (ईश्वर का) बोध होता है।

इस प्रकार जो लोग यह कहते हैं कि वेदों में ईश्वर का ज्ञान नहीं है, 'उपनिषद' और 'गीता' का मत उनके विरुद्ध है।

पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का कहना है कि 'आधुनिक विचारक जिन उपनिषदों में ब्रह्मज्ञान का वर्णन बताते हैं, उन्हें उपनिषदों की यह सम्मति है कि वेद के सभी वचनों में एक ही अद्वितीय 'सतत्त्व' का विचार किया गया है। यहां एक बात और विचारणीय है कि स्वयं उपनिषद् अपने ज्ञान के आविष्कार के प्रसंग में वेदसंहिता के वचनों को ही प्रमाण के रूप से आदरणीय मानते हैं।

वस्तुतः जो लोग उपनिषदों का अध्ययन करते हैं, उन्हें इस बात की सत्यता का पूरा ज्ञान है। इस तथ्य से ही यह बात सिद्ध हो जाती है कि अध्यात्म-ज्ञान का उपदेश करने वाले उननिषद् स्वयं भी वेद-मन्त्रों को ही प्रमाण मानते हैं। इस प्रकार

वेद-मन्त्रों में आत्मा, परमात्मा, ब्रह्म या ईश्वर का ज्ञान निश्चित रूप से प्राप्त होता है। यह बात अलग है कि वेदों में ईश्वरीय ज्ञान को प्रकृति के प्रतीक-पदार्थों के रूप में ही अनुभव करने का प्रयत्न वैदिक ऋषियों ने किया है। स्वयं वेद भी इसे स्वीकार करते हैं—

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति।

(ऋग्वेद 1/164/39)

अर्थात् जो नहीं जानता उसको (परमात्मा को), वह वेद-मन्त्र लेकर या पढ़कर क्या करेगा? अत: वेद-मन्त्रों को पढ़ने की सार्थकता तभी है, जब पढ़ने वाला उस 'परमपद' को जानने का प्रयत्न करेगा। जिसे उसका (परमात्मा का) ज्ञान नहीं होगा, उसके लिए वेदों का अध्ययन करना व्यर्थ है। वेदों में मन्त्रों की अन्तिम सिद्धि उस 'परमपद' के ज्ञान को पाने की ही है। जो ऐसा कहते हैं कि ईश्वरविषयक ज्ञान नहीं है, वे सर्वथा भ्रम में जीते हैं।

वेदों में ईश्वरविषयक ज्ञान की प्रामाणिकता के लिए यह मन्त्र देखने योग्य है—

इन्द्र मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि ममं मातिरिश्वामाहुः॥

(ऋग्वेद 1/164/46)

अर्थात् सत्य तत्त्व एक ही है, परन्तु ज्ञानी लोग उसका वर्णन अनेक रीति और नामों से करते हैं। उसी एक तत्त्व को 'इन्द्र', 'मित्र', 'वरुण', 'अग्नि', 'दिव्य सुपर्ण', 'गरुत्मान', 'यम' और 'मातरिश्वा' कहा जाता है।

व्यवहार में भी एक व्यक्ति और एक पदार्थ के अनेक पर्यायवाची नाम हो सकते हैं। एक व्यक्ति को पिता, पुत्र, भाई, चाचा, मामा, भतीजा, जीजा, साला, पति आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है, पर सम्बन्धों के आधार पर किये गये इन अनेक नामों के मध्य में, एक ही व्यक्ति है। उसे उसके व्यवसाय के आधार पर भी पुकारा जा सकता है। यथा—जज, ज़िलाधीश, तहसीलदार, थानेदार, चोर, सिपाही, मन्त्री, धोबी, अध्यापक आदि अनेक नामों से पुकारा जा सकता है, किन्तु मूल में व्यक्ति एक ही है।

इसी प्रकार इन्द्र, अग्नि, मित्र, वरुण आदि अनेक नामों से पुकारे जाने के उपरान्त भी ब्रह्म, आत्मा, परमात्मा, ईश्वर एक ही है। नाम कितने ही हों, तत्त्व एक ही रहता है।

वेदों में ईश्वर द्वारा प्रदत्त अग्नि, वायु आदि तत्त्वों की ही पूजा की जाती है। इन अनेक नामों से एक ही आत्मा का बोध होता है। इसे दूसरे रूप से भी समझा जा सकता है।

‘इन्द्र’ शब्द को सभी जानते-पहचानते हैं। इसमें ‘य’ प्रत्यय लगाकर ही ‘इन्द्रिय’ शब्द बनाया जाता है। ‘इन्द्रिय’ शब्द का मूल अर्थ है— ‘इन्द्र की शक्ति’, परन्तु वेद-मन्त्रों में ‘इन्द्रिय’ शब्द आंख, नाक, कान, हाथ, पैर, आदि के लिए किया जाता है। इन अंगों के द्वारा इनके भीतर इन्द्र की शक्ति ही प्रकट होती है। यदि ये अंग कार्य करते हैं, तो इस इन्द्र की शक्ति से ही करते हैं। अतः इन्द्र इनके पीछे बैठा है। यदि वह न होता, तो ये अवयव न तो कार्य करते और न इनकी चेतना-शक्ति ही जाग्रत होती। अतः यह सत्य है कि इनके पीछे इन्द्र अवस्थित है।

इसी प्रकार सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ और प्राणी के पीछे ब्रह्म की शक्ति ही विद्यमान है। ब्रह्म अथवा इन्द्र की शक्ति मनुष्य की बुद्धि में संचरित होती है। वहां से वह मन में पहुंचती है। इसके बाद ही मन शरीर की अन्य इन्द्रियों का संचालन करता है।

यह ‘ब्रह्म’ अथवा ‘इन्द्र’ और कोई नहीं, हमारी ‘आत्मा’ है। वेद-मन्त्रों में ‘इन्द्र’ की उपासना करते हुए इसी ‘आत्मा’ की उपासना की गयी है। यह ‘आत्मा’ की उपासना ही ‘परमात्मा’ की उपासना है। हमारे शरीर में यह ‘आत्मा’ है, तो सृष्टि में यह परमात्मा है। शरीर में ‘ईश’ है, तो जगत में ‘ईश्वर’ है, शरीर में ‘देव’ है, तो जगत् में ‘महादेव’ है। यह परमात्मा समस्त जगत की चैतन्य-शक्ति का चेतना-केन्द्र है, ऊर्जा-केन्द्र है।

गीता में ‘आत्मा’ को ‘नित्य’, ‘सर्वव्यापक’ और ‘सनातन’, ‘अचल तत्त्व’ कहा है —

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

(गीता 2/24)

इस प्रकार वेद-मन्त्रों में जिस ‘इन्द्र’ देवता का वर्णन है, वह निःसन्देह इसी ‘आत्मतत्त्व’ का विवेचन है, अर्थात् जो पिण्ड (शरीर) में है, वही ब्रह्माण्ड (जगत्) में है। इसी से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। वेद-मन्त्रों में प्रतीकात्मक रूप से इसी रीति से परमेश्वर का ज्ञान दिया गया है।

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदः परमेष्ठिनम्।

(अथर्ववेद 10/7/17)

अर्थात् जो मनुष्य के शरीर में ब्रह्म को देखते हैं, वे परमात्मा को भी जान सकते हैं।

मनुष्य के शरीर में ‘आत्मा’, ‘ब्रह्म’, ‘इन्द्र’, ‘अग्नि’, ‘चेतना शक्ति’, ‘जीवनी शक्ति’ आदि समस्त जगत् के परमात्मा, परब्रह्म, ऊर्ज्या-पिण्ड आदि का ही अंश है। पिण्ड (शरीर) और ब्रह्माण्ड (जगत्) का एक ही नियम है। इसी नियम से

सारा ब्रह्माण्ड परिचालित होता है। उसमें रंचमात्र भी अन्तर नहीं है। प्रकृति के नियम शाश्वत और अटल हैं।

उपर्युक्त विवेचन से 'आत्मा', 'परमात्मा' के समरूप का विवेचन करने का प्रयास किया गया है। इस समरूप को दृष्टि में रखकर ही वेद-मन्त्रों का अध्ययन किया जाना चाहिए। हमारे जीवित शरीर में 'जीवात्मा' का वास है और जगत् में 'परमात्मा' है। यह जीवात्मा उसी परमात्मा का अंशमात्र है। यह ज्ञान हो जाने के उपरान्त परमात्मा का ज्ञान स्वत: ही हो जाता है।

वेद हमें यही बताते हैं कि 'जीवात्मा' के रूप में परमात्मा प्रति पल, प्रति क्षण, सोते-जागते, उठते-बैठते हमारे साथ रहता है। वह हमारी रक्षा करता है, दोषों के लिए हमें दण्ड देता है और जब चाहे हमें छोड़कर जा भी सकता है।

''जो व्यक्ति 'इन्द्र' का सम्बन्ध किसी अन्य पदार्थ से करते हैं, वे भूल कर रहे हैं।'' श्रीपाद दामोदर सातवलेकर इस कथन की पुष्टि के लिए 'अष्टाध्यायी' का एक मन्त्र 'इन्द्रिय' शब्द की सिद्धि के लिए प्रस्तुत करते हैं—

इन्द्रियं इन्द्रलिगं इन्द्रदृष्टं इन्द्रसृष्टं इन्द्रजुष्टं इन्द्रदत्तं इति वा॥

(पाणिनी कृत अष्टाध्यायी 5/2/93)

इन्द्रः आत्मा तस्य लिङ्ग करणेन कर्तुरनुमानात्।

(कौमुदी)

अर्थात् इन्द्र नाम आत्मा का है। यह आत्मा हमारे भीतर है। ऐसा अनुमान इन्द्रिय-व्यापार देखने से होता है; क्योंकि यह इन्द्र ने किया है, बनाया है और वही देखता है, वही देता है तथा वही कार्य करता है।

अत: इन्द्र वेदों में केवल 'देवता' मात्र ही नहीं है, वह सनातन परमात्मा का बोधक प्रतीक है। ऋग्वेद में इन्द्र को ही इस जगत् का राजा कहा गया है—

इन्द्रो यातोऽवसितस्य राजा
शमस्य च शृङ्गिणो वज्रबाहुः।
सेदु राजा क्षयति चर्शणीताम-
रान्न नेमिः परिता बभूव॥

(ऋग्वेद 1/32/15)

अर्थात् इन्द्र समस्त जड़-चेतन जगत् का राजा है। वह शान्त और सींग वाले मारक पशुओं (ज्ञानियों और हिंस्रक राक्षसों का) का स्वामी है। सब प्रजा का वह राजा है। जिस प्रकार नेमि के चारों ओर चक्र होता है, उसी प्रकार प्रभु के चारों ओर यह सम्पूर्ण विश्व है।

इस प्रकार यहां 'इन्द्र' परमात्मा का ही वाचक है। आगे इसे और भी स्पष्ट किया गया है—

अहमिन्द्रो न पराजिग्य इद्धनं

न मृत्यवेऽवतस्थे कदाचन॥

(ऋग्वेद 10/48/5)

अर्थात् मैं इन्द्र हूं। मेरी पराजय नहीं होती। यह धन मेरे पास ही रहता है। मैं कभी नहीं मरता। मैं अमर हूं।

यह वर्णन शरीर में रहने वाली जीवात्मा का है।

वेदों में जिस प्रकार 'इन्द्र' के माध्यम से परमात्मा का बोध कराया गया है, उसी प्रकार अग्नि, वायु, वरुण, सविता, सूर्य आदि से भी परमात्मा का ही बोध कराया गया है। उसी एक परमात्मा के ये अनेक नाम हैं।

'अग्नि' के लिए वेदों में कहा है—

त्वं अग्ने प्रथमो मनोताऽस्या धियो उभवो दस्य होता।

(ऋग्वेद 6/1/1)

अर्थात् हे अग्ने! तू पहला मननकर्ता है। हे दर्शनीय अग्ने! तू बुद्धि का प्रदाता है।

यहां पर भाष्यकार सायणाचार्य ने 'मनोता' शब्द का अर्थ, 'जहां मन सम्बद्ध होता है, वह मनोता है', किया है। इन्द्रियों का सम्बन्ध मन से होता है और मन आत्मा के साथ सम्बद्ध होता है। बुद्धि का दाता आत्मा है। यह 'आत्मा' ही अग्नि का स्वरूप है। यह अग्निदेव जीवात्मा को पुनर्जन्म का भोग कराता है। इसलिए यह परमेश्वर है।

वेदों में 'अग्नि' को इन्द्र, वृषभ, विष्णु, ब्रह्मा, वरुण, मित्र, अर्यमा, अंश, रुद्र, असुर, भग और स्वष्टा आदि नामों से पुकारा गया है। इस प्रकार वेदों में ईश्वर के अनेक नाम इसी रूप में प्रतीक रूप से उद्धृत किये गये हैं, जबकि पाश्चात्य विद्वान् ऐसा नहीं मानते। वे इन नामों को पदार्थ-रूप में ही ग्रहण करते हैं। कुछ भारतीय विद्वान् भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर बोलते हैं। मंगलदेव शास्त्री का कथन है—''केवल वैदिक संहिताओं में ही नहीं, समस्त वैदिक साहित्य में 'ईश्वर' शब्द रूढ़ि-रूप से परमेश्वर के अर्थ में कहीं भी प्रयुक्त नहीं हुआ है।''

उन्होंने अपनी बात को बढ़ाते हुए कहा है—''वैदिक संहिताओं में परमेश्वर का वाचक मुख्य शब्द 'पुरुष' है। गीता में भी इसी अर्थ में 'पुरुषोत्तम' शब्द आया है।''

उनका मत है कि वैदिक संहिताओं में विराट् पुरुष का रूप अतिमहान् है। वह सबका कारण और स्वामी है। उसकी महिमा लोकातीत है। वह ज्ञान का स्रोत और जगत् को उत्पन्न करने वाला है। समाज के सभी अंग पुरुष के हैं। मृत्यु के

पार उतरने के लिए उसका ज्ञान आवश्यक है। वही देवों का देव महादेव है। वह त्रिकालातीत है। उसकी कोई साकार प्रतिमा नहीं बनाई जा सकती। वह सर्वत्र व्याप्त है। वह परम पुरुष हमारा बन्धु है।

इस पुरुष के साथ हमारा क्या सम्बन्ध है? इसका उत्तर उपरोक्त विवरण से मिल जाना चाहिए; क्योंकि वैदिक संहिताओं में दो-चार सूक्तों में 'पुरुष' का जो वर्णन उपलब्ध होता है, उसके उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

उपरोक्त विश्लेषण से भी क्या यह सिद्ध नहीं हो जाता कि उस परमात्मा का स्वरूप, जहां 'इन्द्र' और 'अग्नि' आदि के रूपों में प्रकट होता है, वहीं यह 'पुरुष' भी उस 'पुरुषोत्तम' परमात्मा का प्रतीक है? त्रिलोकी-रूपी पुरी में निवास करने के कारण ही वह 'पुरुष' कहलाता है। वही सबका जनक है। हमारी कल्पना 'पुरुष' से आगे नहीं जा सकती, इसीलिए हम उस परमात्मा को 'पुरुष' के रूप में पुकारते हैं।

पण्डित श्रीक्षेत्रेशचन्द्र जी चट्टोपाध्याय ने वेदों में ईश्वर के स्वरूप को समझने से पहले वेदों को ही समझने की बात कही है। उनका कहना है कि प्राचीन आचार्यों ने 'वेद' पद से मन्त्र और 'ब्राह्मण' को लिया है। ब्राह्मण प्रधान रूप से मन्त्रों का ही व्याख्यान है। 'ब्राह्मण' वैसा ही वेद है, जैसा कि मन्त्र।

दूसरे, वेद के दो विभाग हैं—'कर्मकाण्ड' और 'ज्ञानकाण्ड।'

'ज्ञानकाण्ड' की प्रधानता उपनिषदों में है और 'कर्मकाण्ड' की वेदों के अवशिष्ट अंश में। वेद में ईश्वर के स्वरूप को समझने के लिए मन्त्र संहिता, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद् (वेदान्त) सभी को देखना चाहिए।

संक्षेप में, उपरोक्त ग्रन्थों का परिचय प्राप्त कर लेना समीचीन प्रतीत होता है। इन्हें जाने बिना वेदों में ईश्वर के स्वरूप को समझना कठिन होगा।

वैदिक साहित्य के अन्य प्रमुख ग्रन्थ

वेदों में निहित विपुल ज्ञान को आत्मसात करना सहज नहीं है। वेदों के वास्तविक अर्थ-ज्ञान को समझने के लिए समय-समय पर विद्वानों ने अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया है। वेदों में निहित मन्त्रों की सटीक व्याख्या करने का प्रयत्न किया है। उनके मूल भाव में पैठने का श्रमसाध्य योग किया है। ये अन्य वैदिक ग्रन्थ उसी साधना के पुष्प हैं—

ब्राह्मण ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में 'ब्राह्मण ग्रन्थ' वे ग्रन्थ हैं, जो वेदों के मन्त्रों की व्याख्या करने के लिए लिखे गये थे। वैदिक संस्कृति और धर्म का पूरा ज्ञान इन ब्राह्मण ग्रन्थों में है। इन्हें कुछ विद्वान् वेद नाम से भी पुकारते देखे गये हैं; क्योंकि ये अति

प्राचीन हैं, परन्तु हमें यहां इतना ही समझना चाहिए कि वेद मूल ग्रन्थ हैं और ब्राह्मण ग्रन्थ उन वेद-मन्त्रों की व्याख्याएं हैं।

ब्राह्मण शब्द 'ब्रह्मन्' से बना है, जिसका अर्थ 'मन्त्र' होता है। वैदिक शब्दावली में 'ब्रह्मन्' को 'यज्ञ' भी कहते हैं। यज्ञ की क्रिया-प्रक्रिया, विधि-विधान करने के लिए जो ग्रन्थ बने, वे ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाये। 'ब्रह्मन्' का एक अर्थ 'रहस्य' भी होता है। अतः वैदिक तत्त्वज्ञान के रहस्यों को प्रकट करने के लिए जो ग्रन्थ रचे गये, वे ब्राह्मण ग्रन्थ कहलाये।

कुछ प्रमुख ब्राह्मण ग्रन्थ

(1) ऋग्वेद—ऐतरेय ब्राह्मण, कोषीतकी या शांख्यायन ब्राह्मण।

(2) यजुर्वेद—1. कृष्ण यजुर्वेदीय शाखा—तैत्तिरीय ब्राह्मण।
2. शुक्ल यजुर्वेदीय शाखा—शतपथ ब्राह्मण।

(3) सामवेद—पंचविंश या ताण्ड्य महाब्राह्मण, षड्विंष ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण।

(4) अथर्ववेद—गोपथ ब्राह्मण।

विषय की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों के तीन भाग किये गये हैं—विधि, अर्थ और उपनिषद्।

विधि में नियमों और सिद्धान्तों का वर्णन है। विधियों द्वारा यज्ञ न करने वालों को यज्ञ करने की प्रेरणा दी जाती है और अज्ञात का ज्ञान कराया जाता है।

अर्थ में मन्त्रों की प्रशंसा करते हुए व्याख्या की जाती है।

उपनिषद् में परम रहस्यमय तत्त्व को उभारकर समझाने की प्रक्रिया होती है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रायः वेदों की कर्मकाण्डपरक व्याख्या की गयी है।

आरण्यक ग्रन्थ

ब्राह्मण गन्थों के परिशिष्ट भाग को 'आरण्यक ग्रन्थ' कहा जाता है। 'आरण्यक' उस साहित्य का नाम है, जिसे नगरों से दूर, वनप्रदेशों में बैठकर रचा गया और वहीं पर उसका पठन-पाठन भी हुआ। ये ग्रन्थ मुख्य रूप से उन गृहस्थियों के लिए रचे गये थे, जो गार्हस्थ्य-जीवन का त्याग करके वानप्रस्थ-जीवन में प्रवेश लेकर वनों में चले जाते थे। वहीं पर रहकर वे इन ग्रन्थों के आधार पर ईश्वरोपासना तथा यज्ञ आदि किया करते थे।

आरण्यक ग्रन्थों में यज्ञ की आध्यात्मिक व्याख्या दी गयी है। ये ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के बीच की कड़ी के रूप में सामने आते हैं। इनमें कर्म और ज्ञान दोनों का समन्वय प्राप्त होता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय ने आरण्यक ग्रन्थों के विषय में कहा है—"आरण्यक

ग्रन्थों में उन महान् आध्यात्मिक तत्त्वों का संकेत उपलब्ध होता है, जिनका पूर्ण विकास उपनिषदों में मिलता है। उपनिषद् आरण्यकों के अन्त में आने वाले परिशिष्ट हैं तथा प्राचीन उपनिषद् आरण्यकों के अंश तथा अंश-रूप में आज भी उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार वैदिक तत्त्व मीमांसा के इतिहास में आरण्यकों का विशेष महत्त्व है।"

'दार्शनिक तत्त्वज्ञान' ही इन आरण्यक ग्रन्थों का प्रतिपाद्य विषय है। इस तत्त्वज्ञान में आत्मा-परमात्मा, सृष्टि की उत्पत्ति, ज्ञान, कर्म, उपासना आदि विषयों पर गम्भीरता के साथ विवेचन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों की जटिलता से निकलकर आरण्यक ग्रन्थों में सहज सरलता से आध्यात्मिक पक्ष को समझाने का प्रयत्न किया गया है।

आरण्यक ग्रन्थों की प्रमुख विशेषता 'प्राण-विद्या' का विश्लेषण है। इसे प्रतीकों के माध्यम से समझाया गया है। इसमें वेद की सभी ऋचाओं को प्राण-स्वरूप स्वीकार किया है। प्राण-तत्त्व की उपासना पर ही इनमें सर्वाधिक बल दिया गया है।

वर्तमानकाल में आरण्यक ग्रन्थ बहुत कम संख्या में उपलब्ध हैं। उपलब्ध आरण्यक ग्रन्थ इस प्रकार है—

(1) ऋग्वेद—'ऐतरेय' और 'शांखायन' आरण्यक।
(2) यजुर्वेद—कृष्ण शाखा—'तैत्तिरीय' और 'मैत्रायणीय' आरण्यक।
शुक्ल शाखा—कोई आरण्यक नहीं।
(3) सामवेद—'तलवकार' और 'छान्दोग्य' आरण्यक।
(4) अथर्ववेद—कोई आरण्यक नहीं।

उपनिषद्

तत्त्वज्ञान का गुरु-शिष्य की प्रश्नोत्तर शैली में विवेचन उपनिषदों में प्राप्त होता है। शंकराचार्य ने उपनिषदों को ब्रह्मविद्या का प्रतीक कहा है। इन्हें 'वेदान्त' के नाम से भी जाना जाता है। इसका एक नाम 'रहस्यम्' भी है।

वेदों के गूढ़तम तत्त्वों का विवेचन उपनिषदों में किया गया है। ये उपनिषद् निश्चित रूप से वैदिक संहिताओं में निहित 'दर्शन' की व्याख्या करते हैं। उपनिषदों की संख्या 200 के लगभग बताई जाती है। कुछ विद्वान् इनकी संख्या 108 मानते हैं, परन्तु मुख्य रूप से मूल उपनिषद् 13 हैं। ये ही प्रामाणिक हैं। शेष अपने-अपने सम्प्रदायों से जुड़े हैं।

ये उपनिषद् भी अलग-अलग वेदों से जुड़े हैं और उनकी व्याख्या करते हैं। ये इस प्रकार हैं—

(1) ऋग्वेद—'ऐतरेय' और 'कौषीतकि' उपनिषद्।

(2) यजुर्वेद—कृष्ण शाखा—'तैत्तिरीय', 'कठोपनिषद्', 'श्वेताश्वतर' उपनिषद्।
शुक्ल शाखा—'बृहदारण्यक' और 'ईशोपनिषद्'।

(3) सामवेद—'छांदोग्य', 'केन' और 'मैत्रायणीय' उपनिषद्।

(4) अथर्ववेद—'मुण्डकोपनिषद्', 'प्रश्नोपनिषद्' और 'मांडूक्योपनिषद्।'

ये सभी उपनिषद् गद्यात्मक शैली में लिखे गये हैं। इन उपनिषदों में 'सृष्टि' 'स्रष्टा' और स्वयं अपने, अर्थात् 'जीव' के विषय में जानने की जिज्ञासा प्रमुख है। इन उपनिषदों में जीवन-दर्शन के गूढ़तम रहस्यों को जानने की जिज्ञासा के अतिरिक्त कर्म की उपयोगिता पर भी बल दिया गया है।

वेदांग

वेदों के स्वरूप और उनके अनुसार कार्य सम्पादन करने के ढंग को ठीक प्रकार से समझने के लिए ही वेदांगों की रचना की गयी थी। ये वे साधन थे, जिनके द्वारा वेदों के अर्थों को ठीक प्रकार से समझा गया और यज्ञादि अनुष्ठान की प्रक्रिया को जाना गया।

वेदांगों की संख्या छह है—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष और निरुक्त।

शिक्षा

इसका अर्थ वेदों में दिये मन्त्रों के उच्चारण से है कि उन्हें किस प्रकार बोलना चाहिए। स्वर-योजना के सही उच्चारण करने का ढंग इस शिक्षा में बताया गया है।

कल्प

यज्ञ की विधियों का प्रतिपादन किस प्रकार किया जाये, यह कल्प के अन्तर्गत आता है। सम्पूर्ण वैदिक कर्मकाण्ड को चार कल्पसूत्रों में विभाजित कर दिया गया है। ये चार सूत्र हैं—श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र और शुल्व सूत्र।

'श्रौतसूत्र' में विविध यज्ञों का वर्णन है। 'गृह्यसूत्र' में विवाह-संस्कार, भवन-निर्माण तथा कृषिकर्म आदि का वर्णन है। 'धर्मसूत्र' में रीति-नीति, परम्पराएं, प्रथाएं, वर्णाश्रम, लोक-व्यवहार आदि का वर्णन किया गया है और 'शुल्व सूत्र' में यज्ञ-वेदी के निर्माण आदि का वर्णन है।

इन कल्पसूत्रों को चारों वेदों के अनुसार भी विभाजित किया गया है। जैसे—ऋग्वेदीय कल्पसूत्र, यजुर्वेदीय कल्पसूत्र, सामवेदीय कल्पसूत्र और अथर्ववेदीय कल्प सूत्र।

कल्पसूत्रों में वेदों का अथाह ज्ञान समाहित है। वेदों के सतत अध्ययन के लिए इन कल्पसूत्रों को पढ़ना और इनका मनन करना अति आवश्यक है।

व्याकरण

वेदों में प्रयुक्त शब्दों और वाक्यों के अर्थ और व्युत्पत्ति को समझना और समझाना व्याकरण का कार्य है।

छन्द

वेद-मन्त्र छन्दों में रचे गये हैं। उनके विशुद्ध उच्चारण के लिए छन्दों का ज्ञान अति आवश्यक है। प्रत्येक सूक्त में छन्द का नामोल्लेख किया गया है। वैदिक छन्द अक्षरों की गणना पर आधारित है।

ज्योतिष

वैदिक यज्ञ किसी शुभमुहूर्त में ही किये जाते थे। शुभमुहूर्त निकालने के लिए ज्योतिष की आवश्यकता पड़ती थी। नक्षत्रों की गणना करके फल निकालने का प्रावधान था।

निरुक्त

वेदों के विशुद्ध ज्ञान को जानने-समझने के लिए निरुक्त ही प्रामाणिक साधन है। वैदिक शब्दों का अर्थ और भाव निरुक्त में अच्छी प्रकार से समझाया गया है। वेदग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों का संग्रह इन ग्रन्थों में किया गया है और उनका विवेचन किया गया है। उनकी व्याख्या की गयी है। उन्हें तर्कपूर्ण ढंग से समझाया गया है। वस्तुतः 'निरुक्त' वेदों के शब्दों का शब्दकोश है।

वेदों में प्रयुक्त मन्त्रों के अर्थों को समझने के लिए ही वेदांगों की रचना की गयी थी। इसलिए पण्डित श्री क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने वेदों में ईश्वर के स्वरूप को समझने के लिए पहले वेदों को समझने की बात कही है। जब तक वेदों को समझने के लिए वेदांगों और वेदों की व्याख्या में लिखे गये अन्य ग्रन्थों का मनन नहीं किया जाता, तब तक वेदों में स्थित 'ब्रह्म' अथवा 'ईश्वर' के स्वरूप को भी ठीक प्रकार से समझना कठिन है।

विद्वान् लेखक ने उनका अध्ययन करने के उपरान्त ही ईश्वर सम्बन्धी अपने विचार यहां प्रस्तुत किये हैं। सर्वप्रथम वे उन विद्वानों की ओर संकेत करते हैं, जो वेद में देवताओं के नाम और उनकी स्तुति को स्वीकार नहीं करते। वे 'अग्नि' तथा 'इन्द्र' आदि देवताओं को 'परमेश्वर' के रूप में ही स्वीकार करते हैं।

उनका कहना है कि श्रुति स्वयं इसका विरोध करती है—'हे अग्नि! तुम जिस हिंसारहित यज्ञ को चारों ओर से घेरे हो, वह यज्ञ देवों के पास पहुंचता है।'—*(ऋग्वेद 1/1/4)* इसी प्रकार 'अमरों में मैं अब किस देवता का नाम लूं, जो मुझे अब पृथिवी पर लौटा देगा, जिससे मैं अपने माता-पिता को देख सकूं।'—*(ऋग्वेद 1/24/1)* इसके अतिरिक्त यह भी देखें कि यहां पर देवताओं का उल्लेख बहुवचन में किया गया है—'**सवित्** देव की प्रेरणा से, **अश्विव** देवों के बाहु से, पूषा के हस्त

से, अग्नि के लिए तुम प्रिय हवि को मैं ग्रहण करता हूं।'—*(माध्यन्दिन संहिता 1/10/1)* वास्तव में यह 'मैं' कौन है? यही 'मैं' ईश्वर है।

इसी प्रकार के अनेक उदाहरण देकर वे कहते हैं कि वेदों में भिन्न-भिन्न देवों का उल्लेख वास्तव में ईश्वर के लिए ही हुआ है। उस ईश्वर के ही गुण उन देवताओं में संचरित हुए हैं। 'सामवेद' के 'केनोपनिषद्' में कहा गया है कि 'ब्रह्म की शक्ति से ही हम अपने मन का प्रयोग कर पाते हैं,' बुद्धि को विकसित कर पाते हैं।

वस्तुतः केवल देवगण ही नहीं, समस्त विश्व ही ईश्वर से अभिन्न है। वेदों में इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। उपनिषदों में ईश्वर के लिए कहा गया है—'**सर्व खल्विदं ब्रह्म**', अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है।

ईश्वर का वैदिक स्वरूप

ब्राह्मण ग्रन्थों में कहीं-कहीं मन्त्र संहिताओं में ईश्वर को 'प्रजापति' नाम से भी पुकारा गया है। वहां प्रजापति 'अनिरुक्त', अर्थात् कथन से बाहर कहा गया है। इसका अर्थ यही हुआ कि प्रजापति का रूप ज्ञान से परे हैं। उसे जाना नहीं जा सकता। उपनिषदों में भी ईश्वर को 'अनिरुक्त' प्रजापति कहा गया है। इस प्रकार निर्निवेष, समस्त गुणों से अतीत रूप ही ईश्वर का पारमार्थिक रूप है और व्यवहार में सभी रूप उसी के हैं।

ऐसा ईश्वर जो पारलौकिक है, बुद्धि से परे है और जो केवल अनुभवगम्य है, उसे जानकर ही लोग मृत्यु के भय से मुक्त हो जाते हैं और आवागमन के फन्द से छूटकर 'मोक्ष' प्राप्त करते हैं। ऐसा ईश्वर ही वेदों का प्रतिपाद्य विषय है।

वेदान्तों में भी यही बात कहीं गयी है। वह ईश्वर जीवात्मा के लिए अत्यन्त कठ़िन ही नहीं, वरन् असम्भव है। समस्त सृष्टि-चेतना में व्याप्त उस ईश्वर को मनुष्य अपनी क्षुद्र बुद्धि से नहीं समझ पाता। शब्दों के द्वारा उसके स्वरूप का उल्लेख करना अत्यन्त कठिन है।

परन्तु श्रुतियों (वेदों) में जो ज्ञान भरा हुआ है, वह प्राचीन तत्त्ववेत्ता महर्षियों के साक्षात् अनुभव का ही परिणाम है। उस पर किसी प्रकार की शंका करना आस्तिक विद्वान् पाप समझते हैं। ईश्वर के सम्बन्ध में इस श्रुति को पढ़ने से ईश्वर सम्बन्धी सभी शंकाए निर्मूल हो जाती है—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्त रूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम्॥

अर्थात् वह ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्तिस्वरूप,. अविनाशी,

अखिल सृष्टि का कारण, अद्वितीय, सर्वव्यापक, चिदानन्दस्वरूप, आदि, मध्य एवं
अन्त से रहित, अलक्ष्य एवं अद्भुत है।

प्रत्येक भाष्यकार ने ब्रह्म के अनेकानेक स्वरूपों का वर्णन किया है, किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि ब्रह्म के यथार्थ रूप का वह प्रामाणिक चित्रण है या नहीं, परन्तु प्राचीन वैदिक ऋषियों ने अपने आन्तरिक अनुभव के आधार पर ईश्वर के विषय में जैसा कहा है, वह सत्य के अधिक निकट है। प्राय: सभी आचार्यों ने ईश्वर के विषय में अपने विचार प्रस्तुत करते हुए श्रुतियों को ही आधार माना है और उन्हें ही प्रमाण के रूप में उपस्थित किया है।

श्रुति कहती है कि ब्रह्म अनुभवगम्य है, उसे तर्क से नहीं जाना जा सकता। प्रत्येक व्यष्टि-चेतन जीवन के लिए यह सम्भव है ही नहीं कि वह समष्टि-चेतन ब्रह्म के अनन्त स्वरूप की सहसा झलक पा सके। साधक अपनी रुचि के अनुसार दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य और साधना द्वारा ईश्वरोपासना कर सकता है। वेदान्त में सभी को मान्यता प्राप्त है; क्योंकि सभी मार्ग उस 'एक लक्ष्य' ब्रह्म की प्राप्ति के लिए हैं और उसी ओर ले जाते हैं। ईश्वर के अस्तित्व में सन्देह करना अपने अप्रबुद्ध विवेक को प्रकट करना है।

मूर्ख व्यक्ति अपने मन में सन्तोष कर लेता है कि ईश्वर नहीं है। यह उसका नास्तिक भाव है, जबकि प्रकृति के मध्य असंख्य प्रमाण सर्वत्र विद्यमान हैं, जिनसे उस सर्वव्यापक एवं सर्वोपरि चैतन्य शक्ति का आभास होता है। वेदों में उस सर्वव्यापक चैतन्य शक्ति का ऋषियों ने बार-बार अनुभव किया था और उसी का उल्लेख मन्त्रों के रूप में उन्होंने किया है।

वेद में 'ओ३म्' का स्वरूप

'ओ३म्' का अर्थ सर्वरक्षक परमात्मा से है। 'ओ३म्' को चित्र रूप में 'ॐ' भी लिखा जाता है। आध्यात्मिक साधना में 'ओ३म्' का उपयोग प्रत्येक मन्त्र से पहले किया जाता है।

'ऋग्वेद' में ओ३म् अथवा 'ॐ' का प्रयोग नहीं हुआ है। वेदों में 'यजुर्वेद' में 'ओ३म्' का प्रयोग हुआ है।

ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतथ्वं स्मर॥

(यजुर्वेद 40/15)

अर्थात् हे कर्मठ जीव! तू मृत्यु के समय ईश्वर के नाम 'ओ३म्' का स्मरण कर अपनी सामर्थ्य, स्वरूप और अपने द्वारा किये कर्मों के लिए परमात्मा का ध्यान कर।

बाद में उपनिषद् आदि ग्रन्थों में 'ओ३म्' शब्द का प्रयोग प्रचुरता के साथ

हुआ है। उपनिषदों में ओ३म् को 'प्रणव' के रूप में स्वीकार किया है। 'ओ३म्'

का उच्चारण प्रत्येक वैदिक मन्त्र के पूर्व में किया जाना अनिवार्य माना जाता है। 'ओ३म्' शुभ भाव का प्रतीक है।

'अव' धातु में 'मनिन्' प्रत्यय लगाकर 'ओम्' शब्द बनता है। इसे आरोह आलाप से उच्चरित करने के लिए इसे 'ओ३म्' रूप में लिखा जाता है। 'ओ+३+म्' अक्षर के मध्य में ३ संख्या का संकेत 'ओ' अक्षर को ऊंचे स्वर में आलाप करने से है।

'अव' धातु का अर्थ है—रक्षा करना। इसमें 'मनिन्' प्रत्यय लग जाने के बाद 'ओ३म्' का अर्थ—'रक्षक' हो जाता है। परमात्मा हम सभी का रक्षक है। 'ओ३म्' को मंगलसूचक माना जाता है। इसलिए प्रत्येक उपासना से पूर्व 'ओ३म्' का उच्चारण किया जाता है। यह सब तरह से हमारी रक्षा करता है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और लय, तीनों शक्तियों का प्रतीक 'ओ३म्' है। यह ओ३म् 'अनाहतनाद', अर्थात् शून्य में गूंजने वाली परमात्मा की ध्वनि है, जिसके श्रवण से अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। यह ईश्वर का संगीत है। यह वह नाद है, जहां भाषा, तर्क, विचार और दर्शन, सभी अपना अर्थ खो देते हैं।

वेदों में ईश्वरीय उपासना के प्रतीक अंग

ईश्वर की उपासना-पद्धति में अनेकानेक पदार्थों और संसाधनों का प्रयोग प्राचीनकाल से हिन्दू धर्म में होता चला आ रहा है। इन्हें प्रतीक-रूप में उपासना कार्य को सम्पन्न करने के लिए हम ग्रहण करते हैं। भारतीय संस्कृति में अनेक ऐसे प्रतीक हैं, जो चिरकाल से हमारी श्रद्धा और उपासना के अंग रहे हैं। ये प्रतीक प्रकृति के मध्य से ही ऋषियों ने ग्रहण किये थे, जो आज भी परम्परा से हमारी श्रद्धा के साथ जुड़े हैं। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रतीक इस प्रकार हैं।

यज्ञ

ऋग्वेद में 'यज्ञ' से ही संसार की उत्पत्ति मानी गयी है। उसे ही धर्म का पहला स्वरूप माना गया है।

यज्ञेन यज्ञमयजंत देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्॥

(ऋग्वेद 10/90/16)

अर्थात् दिव्य शक्तियां अग्नि के माध्यम से सृष्टिरूपी यज्ञ को सम्पन्न करती हैं। वही संसार के प्रथम धर्म को धारण करती हैं।

वैदिक ऋषि अग्नि प्रज्वलित करके उपासना किया करते थे। उसे ही यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। यज्ञ में देवताओं के लिए आहुति दी जाती है। यज्ञ जीवात्मा के प्रति समर्पण का प्रतीक है। देवों को समर्पित करके ही जीवन अपने को धन्य मानता है और अपने सुख की अभिलाषा करता है।

सत्–असत्

'सत्' ज्योति का और 'असत्' अन्धकार का प्रतीक है। 'सत्' ज्ञान का और 'असत्' अज्ञान का प्रतीक है। यह जीवन के 'सकारात्मक' एवं 'नकारात्मक' पक्ष का प्रतीक है।

वैदिक ऋषि जीवन के उषाकाल से ही ज्योति, अग्नि, सूर्य, सविता, उषस् की उपासना करते आये हैं। उपनिषदों में भी 'असतो या सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।' कहा गया है। जिसका भाव है, असत्य के मार्ग से सत्य के मार्ग की ओर बढ़ें और अन्धकार से प्रकाश की ओर चलें। वैदिक ऋषि अन्धकार-रूपी अज्ञान से ज्योति-स्वरूप ज्ञान की ओर बढ़ने की प्रेरणा देते हैं।

'गौ' और 'अश्व'

वैदिक ऋषियों ने पशुओं से भी कुछ प्रतीक लिये हैं, जो उनकी उपासना-पद्धति के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। 'गौ' शब्द से गाय और प्रकाश का अर्थ होता है और 'अश्व' से गति का।

भारतीय उपासना-पद्धति में 'गौ' और 'अश्व' दोनों ही महत्त्वपूर्ण रहे हैं। गाय को कामधेनु, अर्थात् सम्पूर्ण मनोकामनाओं को पूर्ण करने वाली माता के समान माना गया है। वैदिक ऋषियों के लिए गाय 'धन' के रूप में प्रयोग होती थी। इसी प्रकार आर्यों ने 'अश्व' को 'शक्ति' और तीव्रगति का प्रतीक माना है। उसी को लेकर 'अश्वमेध' यज्ञ किये जाते थे।

वैदिक साहित्य में पशुओं और पदार्थों को 'वर्ग' के रूप में प्रयोग किया जाता था। अधिक उपयोग अथवा अधिक प्रचलित व्यवहार में आने वाला पदार्थ या पशु, इस दृष्टि से वैदिक ऋषियों ने पशुओं के दो वर्ग बनाये हुए थे—एक 'गौ,' दूसरा 'मृग'।

जितने भी पालतू पशु हैं, वे 'गौ वर्ग' के अन्तर्गत आते थे और समस्त जंगली पशु 'मृग वर्ग' में आते थे। पालतू पशुओं में गाय, भैंस, अश्व, भेड़, बकरी, ऊंट, गधा, कुत्ता, खच्चर आदि पशुओं को लिया जाता था और उन्हें 'गौ' वर्ग में रखा जाता था। *(अथर्ववेद 6/52/2)* इसे पशुधन कहा जाता था। इसी तरह 'मृग' वर्ग में केवल हिरन ही नहीं आते थे, अपितु सिंह, व्याघ्र, शृगाल, हाथी आदि के लिए भी इसी वर्ग का प्रयोग किया जाता था।

वर्ग-विशेष के प्रतीक देवगण

अथर्ववेद में 'इन्द्र', 'आपः', 'ओषधि', 'द्यौ', 'द्यावा', 'पृथिवी', 'मित्र', 'वरुण', 'अश्व', 'गौ' आदि जो नाम आये हैं, वे वर्ग-विशेष के नाम हैं, न कि वस्तु-विशेष के। वेद-मन्त्रों का अर्थ करते समय इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है।

घृत या घी

यज्ञ करने के लिए व अग्नि को सुगन्धित बनाये रखने के लिए जहां उसमें सुगन्धित वनस्पतियों द्वारा तैयार की गयी सामग्री का प्रयोग होता है, वही घृत का प्रयोग अग्नि की ज्वलनशीलता को बनाये रखने के लिए होता है। घृत से वायुमण्डल भी पवित्र होता है।

घृत की आहुति देकर अग्निदेव को प्रसन्न किया जाता है और उससे जीवन में सुख की कामना की जाती है।

शंख

समुद्र से निकला शंख यज्ञ से पूर्व मांगलिक ध्वनि उत्पन्न करने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह शंख-ध्वनि देवगण को जाग्रत कराये जाने का प्रतीक है। वैदिक ऋषि इसका प्रयोग यज्ञ प्रारम्भ होने पर करते थे। इस ध्वनि से आस-पास की दुरात्माओं को भी दूर हटाया जाता था और उन्हें दूर रहने की चेतावनी भी दी जाती थी।

श्येन (बाज़)

बाज़ (श्येन) तेज़ गति और दूर दृष्टि का प्रतीक है। श्येन पक्षी स्वर्ग से इन्द्र के लिए 'सोम' लाने वाला है।

सिंह

अग्नि को कई बार सिंह भी कहा गया है। यह शौर्य और अग्नि की तेजस्विता का प्रतीक है।

वृषभ

वेदों के पर्जन्य सूक्तों में मेघ को वृषभ, अर्थात् सांड कहा गया है। वृषभ कृषिकर्म में अत्यन्त सहायक था। यह उर्वरा भूमि का प्रतीक है।

पीपल (अश्वत्थ)

वनस्पति जगत् से चुने गये प्रतीकों में 'पीपल' का स्थान सर्वोपरि है। भारतीय अनुष्ठानों में पीपल की उपासना का बार-बार महत्त्व दर्शाया गया है। *(ऋग्वेद 10/97/5)* पीपल के पेड़ की विशेषता उसके प्रदूषणरोधी गुणों के कारण की गयी है। हिन्दू धर्म में पीपल की उपासना का बड़ा महत्त्व माना गया है।

तुलसी

वनस्पतियों में वातावरण की शुद्धि के लिए तुलसी का पौधा रामबाण औषधि के समान है। वैदिक आश्रमों में तुलसी का पौधा अवश्य लगाया जाता था। तुलसी

के पत्तों का जल अनेक रोगों को दूर करने में सहायक होता है। इसके जल को गंगा-जल की भांति पवित्र माना जाता है। इसमें रोगाणुओं को नष्ट करने की अद्‌भुत शक्ति होती है। पूजा-पाठ में तुलसीदल का विशेष महत्त्व है।

कुश

वनस्पति परिवार में 'कुशा' एक प्रकार की मुलायम घास होती है। इससे बनाये गये आसनों पर बैठकर 'यज्ञकर्म' अथवा 'पूजा' करने का कर्म अत्यन्त शुद्ध माना जाता है। पूजा में संकल्प आदि करने अथवा इसके द्वारा अग्नि में घृत और जल डालने के लिए 'कुश' की बहुत आवश्यकता होती है। यह एक पवित्र घास है। इस घास के लिए वेदों में दर्भ, बर्हिस, दूब आदि नाम प्रचलित हुए हैं।

कमल अथवा पुष्प

'कमल' का फूल भारतीय संस्कृति में, काव्य में, दर्शन में, पूजा-पाठ में, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वेदों में इसे 'पुष्कर' नाम दिया गया है। अथर्ववेद में इसे 'पुण्डरीक' के नाम से जाना जाता है। यह इस बात का प्रतीक है कि संसार में रहो, तो कमल की भांति रहो। कमल कीचड़ में उगता है, परन्तु उससे अलग होकर निर्मल जल के ऊपर प्रस्फुटित होता है। भाव यही है कि सांसारिक बुराइयों को त्याग करके पवित्र भावनाओं तथा विचारों के साथ इस संसार में रहो और जीवमात्र का कल्याण करो।

ध्वज, केतु, रथ, चक्र

'ध्वज' का वैदिक ऋषियों ने प्रतीक-रूप में सुन्दर प्रयोग किया है *(ऋग्वेद 7/85/2)*। जैसे युद्ध में प्रत्येक सेना का अपना ध्वज होता है, उसी प्रकार यज्ञ का भी 'ध्वज' होता है। अग्नि के धुएं को भी 'ध्वज' अथवा 'केतु' कहा गया है। यज्ञ में अग्नि की लपटें यज्ञ की ध्वजाएं हैं।

'रथ' गति का प्रतीक है। 'ऋग्वेद' में **'सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य।'** *(1/50/9)* सूर्य के सप्त अश्वों से जुते रथ का बार-बार प्रयोग हुआ है। सात रंग वाली सूर्य-रश्मियां ही सूर्य के रथ के सात अश्व हैं।

'चक्र' रथ का पहिया है। उसके बिना रथ नहीं चल सकता। इसी प्रकार समस्त संसार इस चक्र की धुरी पर घूम रहा है। वैदिक ऋषियों के लिए चक्र प्रिय प्रतीक है।

स्वस्तिक

'स्वस्तिक' की आकृति 卐 इस प्रकार की है। यह चिह्न शुभ-मंगल का प्रतीक है। यह 'अस्ति' में 'सु' उपसर्ग लगकर बना है। जिसका अर्थ है—

कल्याणकारी। वैदिक ऋषियों ने 'स्वस्ति' शब्द के द्वारा बार-बार मंगल की
कामनाएं की हैं।

इसी प्रकार वेदों में अन्य अनेक प्रतीक हैं, जिनका स्थान-स्थान पर प्रयोग किया गया है। उनमें जैसे 'पृथिवी' माता की प्रतीक है, 'आकाश' पिता का प्रतीक है, 'ब्रह्म' ईश्वर का प्रतीक है, 'आर्य' श्रेष्ठ व्यक्ति का वाचक है, 'असुर' को प्रारम्भ में बलशाली माना गया, परन्तु बाद में उसे राक्षस के रूप में प्रयोग किया जाने लगा। 'दास' कर्म करते-करते थक जाने वाले को कहा गया है। 'दस्यु' कर्महीन, आलसी कहलाया। बाद में इन्हें नौकर और डाकू के रूप में देखा जाने लगा।

इसी प्रकार संस्कारों में पत्नी का हाथ ग्रहण करने वाले पति को वेदों में 'हस्तग्रहण' कहा गया, जो बाद में 'पाणिग्रहण-संस्कार' बन गया। वेदों में सभी देवों को किसी-न-किसी शक्ति का प्रतीक माना गया। 'अग्नि' को 'प्राणतत्त्व' का, 'इन्द्र' को मन का, 'रुद्र' को विनाश का, 'अदिति' को अनन्तता का, 'सोम' को अमृत का, 'मधु' को आनन्द का और 'मन्त्र' को मनन, अर्थात् चिन्तन का प्रतीक माना गया। मन्त्र की शक्ति का ज्ञान, बिना गुरु की दीक्षा के सम्भव नहीं है।

इस प्रकार वेदग्रन्थ, ज्ञान के विश्वकोश के समान हैं। विश्व का कोई भी ऐसा ज्ञान शेष नहीं, जिनका उल्लेख या संकेत इन ग्रन्थों में न मिलता हो। इस बात से प्रायः सभी एक मत हैं कि परमात्मा का दिया हुआ विपुल ज्ञान-भण्डार वेदों में निहित है। वह परमात्मा, जिसने इस ज्ञान का प्रवाह इस धरती पर किया अथवा सृष्टि की रचना की, वह अनन्त है, सर्वव्यापक है। हम सभी उसकी आराधना करते हैं—

तत्त इन्द्रिय परमं पराचैरधारयन्त कवयः पुरेदम्।
क्षमेदमन्यद्दिव्य न्यदस्य समी पृच्यते समनेव केतुः ॥

(ऋग्वेद 1/103/1)

अर्थात् हे जगदीश्वर! आप जीव की सृष्टि में प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष, सामर्थ्यवान्, प्रबल तेजस्वी, समस्त जीवों में सर्वोत्तम, ऐश्वर्ययुक्त, जीव की बुद्धि के कारक, सृष्टि के नियन्ता, पृथिवी के धारक, प्रकाशमान सूर्य की भांति, ब्रह्माण्ड के मध्य स्थित, जल को धारण करने वाले, विलक्षण और अद्भुत दृश्यों को जन्म देने वाले, जैसे युद्धभूमि में सेना आ जुटे ऐसे विज्ञान के जनक, आप समस्त जीवों में अपने तेज को प्रकट करते हैं।

हे जगदीश्वर! आपको शत-शत नमन।

□□

ब्रह्मयज्ञ
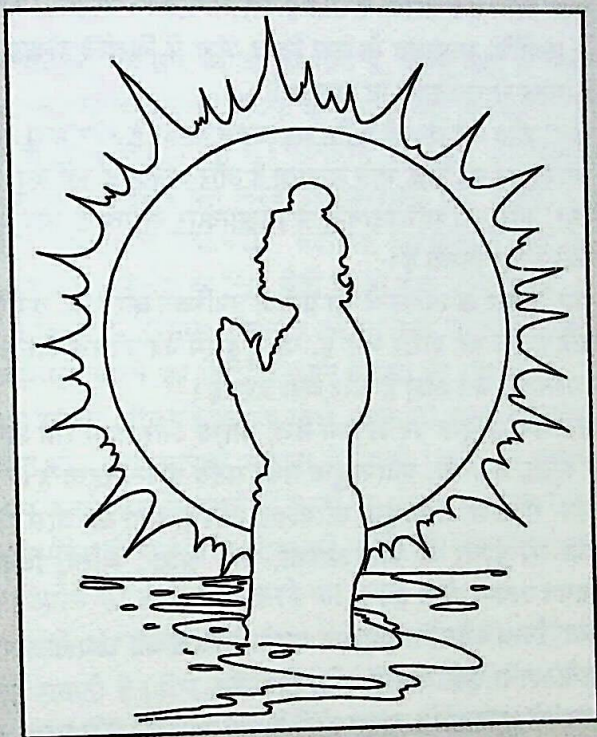
सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहन च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥

—*(गीता 15-15)*

—मैं ही सब प्राणियों के हृदय में अन्तर्यामी रूप से स्थित हूं तथा मुझसे ही स्मृति, ज्ञान और निराकरण होता है और सब वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं तथा वेदान्त का कर्ता और वेदों को जानने वाला मैं ही हूं।

सन्ध्या क्यों जरूरी?

सन्ध्या का अर्थ है—योग। दो समयों के मिलन को सन्ध्या कहा जाता है। यहां समयों का नहीं, 'जीवात्मा' और 'परमात्मा' के योग का मिलन ही सन्ध्या है।

'सन्ध्या' जीव को स्मरण कराती है उस आनन्दघन परमात्मा का, जहां उसे जाना है; क्योंकि परमात्मा के उस दिव्य अंश में विलीन होकर ही वह इस मायावी प्रपंच से छुटकारा पा सकता है।

'सन्ध्या' जीव को बताती है कि यह जगत नश्वर है और मृत्यु अनिवार्य है। जीवन-मरण का यह चक्र मात्र छलावा है और अनेक दुःखों का कारण भी।

'सन्ध्या' जीव का सच्चिदानन्द से साक्षात्कार कराती है और परमात्मा के वर्चस्व को सिद्ध करती है।

'सन्ध्या' ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण उपस्थित करने का कार्य करती है। वह बताती है कि यह शरीर जड़ है, परन्तु इसमें जो जीवनी शक्ति विद्यमान है, वही परमात्मा का अंश है और वही द्रष्टा है।

1. सध्या करने से मुख पर अनुपम तेज, आभा और गम्भीरता आ जाती है। शरीर शुद्ध, तेजस्वी, कान्तियुक्त तथा सदैव प्रसन्न रहता है।
2. 'सन्ध्या' से वाणी में माधुर्य, कोमलता और सत्यता का वास हो जाता है।
3. 'सन्ध्या' से ईश्वर के प्रति आस्था, प्रेम, श्रद्धा, भक्ति, विश्वास और अपनापन उत्पन्न होता है।
4. 'सन्ध्या' नित्य और नियमपूर्वक करने से चित्त की चंचलता समाप्त होती है। शनैः-शनैः एकाग्रता में वृद्धि होती है।
5. 'सन्ध्या' से अन्तर्ज्योति जाग्रत होती है, जो जीव को प्रति पल सत्य पथ पर चलने की प्रेरणा देती है।
6. 'सन्ध्या' से मन के समस्त विकार शनैः-शनैः समाप्त हो जाते हैं।
7. 'सन्ध्या' से मन में पवित्र भावनाएं, उच्च विचार एवं सात्विक गुणों की वृद्धि होती है।
8. 'सन्ध्या' में ईशगान करने से चित्त प्रसन्न और अभय हो जाता है। मन की आन्तरिक शक्ति बढ़ जाती है। संकल्प-शक्ति सुदृढ़ हो जाती है।
9. 'सन्ध्या' से हृदय में शान्ति, सन्तोष, क्षमा, दया और प्रेम आदि सद्गुणों का उदय हो जाता है और उनका शनैः-शनैः विकास होने लगता है।
10. 'सन्ध्या' करते समय जो आनन्द प्राप्त होता है, वह वर्णनातीत होता है। हृदय में जो रस की धारा प्रवाहित होती है, उसे हृदय तो पान करता ही है, प्रायः सभी इन्द्रियां तन्मय होकर शान्ति-लाभ भी प्राप्त करती हैं।
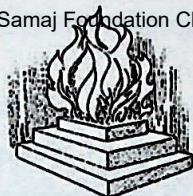
सन्ध्या-विधान

यूं तो ईश्वर की उपासना के अनेक मार्ग हैं, परन्तु वेदों में यज्ञ के द्वारा ही ईश्वर की आराधना का विधान है। वैदिक ऋषि यज्ञ-वेदी बनाकर ही विविध मन्त्रों द्वारा परमात्मा के लिए आहुति देते थे। परमात्मा की स्तुति का सबसे सरल मार्ग यही है कि एकान्त में बैठकर यज्ञ करना या प्राणायाम द्वारा उसका ध्यान करना।

'प्राणयाम' द्वारा किया गया ध्यान 'ब्रह्मयज्ञ' कहलाता है। इसे दूसरे शब्दों में 'सन्ध्या' भी कहते हैं। सन्ध्या के लिए वेदों में जो मन्त्र दिये गये हैं, उनका संग्रह आर्य ऋषियों ने किया है। ये मन्त्र परमात्मा की स्तुति के सारतत्त्व मन्त्र हैं। यहां उन मन्त्रों द्वारा 'ब्रह्मयज्ञ' करने का विधि-विधान बताया जा रहा है।

सर्वप्रथम स्वच्छ और प्रकाशयुक्त खुले स्थान का चयन इस दृष्टि से करें कि वह स्थान शान्त हो। वहां आपकी साधना में किसी प्रकार का व्यवधान न पड़े। स्थान का चयन करके हलके वस्त्रों में कुशा के आसन पर सुखासन की मुद्रा में बैठें। सम्भव हो सके, तो मुख उत्तर दिशा की ओर रखें। मन को शान्त और एकाग्र करने के लिए अपने को तनावमुक्त करने का प्रयत्न करें।

सन्ध्या करने का उचित समय प्रातःकाल का होता है। सांझ के समय भी सन्ध्या की जा सकती है। दिन और रात अथवा रात और दिन की सन्धिवेला में वातावरण शान्त रहता है। हलका आहार लें। बहुत अधिक खाने के बाद आलस्य आता है। उससे सन्ध्या-वन्दन में उपासक को लाभ के स्थान पर हानि हो सकती है। कुशा के आसन पर सीधे होकर बैठें। रीढ़ की हड्डी को झुकने न दें। एक लोटा शुद्ध जल पास में रखें। दोनों हथेलियों को खोलकर घुटनों पर रखें।

मन और शरीर को हलका करने के लिए सर्वप्रथम 'ओ३म्' का जाप करें। कम से कम 24 बार अवश्य करें। तदुपरान्त निम्न मन्त्र पढ़ें—

उपासना मन्त्र

ओ३म् विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्नऽ आसुव॥

अर्थात् हे सकल विश्व के उत्पत्तिकर्ता! समग्र ज्योति के पुंज! शुद्ध ऐश्वर्य स्वरूप! हे सुखों के दाता परमेश्वर! आप कृपा करके हमारे सम्पूर्ण दुर्गुणों को,

समस्त दुःखों को दूर कीजिये और जो कल्याणकारी पदार्थ और भाव हैं, उन्हें हमें प्रदान कीजिये।

इस मन्त्र को कम-से-कम तीन बार पढ़ें और जीवन का कोई लक्ष्य निर्धारित कर, संकल्पस्वरूप अपनी शिखा (चोटी) में अथवा अपने वस्त्र में तीन गांठें लगायें। साथ ही मन में विचार करते रहें कि परमात्मा आपके दोषों को आपसे दूर ले जा रहा है। आप दोषमुक्त होते जा रहे हैं।

स्तुति मन्त्र

प्रभु का ध्यान करते हुए कम-से-कम तीन बार गायत्री मन्त्र का जाप करें और अपने किये गये संकल्पों को मन में दोहराते रहें।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

अर्थात् हे सर्वरक्षक, सच्चिदानन्दस्वरूप परमेश्वर! हे प्राणों से प्यारे, दुःख-विनाशक, सुखस्वरूप, सर्वोत्पादक, प्रकाशक, प्रेरक, वरण करने योग्य, शुद्ध विज्ञानस्वरूप परमात्मा! हम आपका ध्यान करते हैं। आप हमारी रक्षा करते हुए, हमारी बुद्धि को पवित्र और विकसित कीजिये।

आचमन मन्त्र

इस मन्त्र को पढ़ते हुए लोटे से तीन बार आचमन करें और गीली हथेली को अपने सिर पर पोंछ दें।

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभि स्त्रवन्तु नः॥

अर्थात् हे सर्वप्रकाशक और सर्वव्यापक परमेश्वर! आप हमारे समस्त शुभ और मंगल कर्मों में सहायक बनें और हम पर सब ओर से अपनी कृपा की वर्षा करते रहें। हमें सुख और ऐश्वर्य से परिपूर्ण करें।

इन्द्रिय-स्पर्श मन्त्र

इस मन्त्र को पढ़ते हुए अपनी इन्द्रियों को स्पर्श करते रहें। इस स्पर्श से सुप्त इन्द्रियां सक्रिय होकर चैतन्य हो जाती हैं।

'ओम् वाक् वाक्। ओम् प्राणः प्राणः। ओम् चक्षुः चक्षुः। ओम् श्रोत्रम् श्रोत्रम्। ओम् नाभिः। ओम हृदयम्। ओम् कण्ठः। ओम् शिरः। ओम् बाहुभ्यां यशोबलम्। ओम् करतलकर पृष्ठे॥'

अर्थात् हे प्रभो! आपकी कृपा से मेरी वाणी, प्राण, आंखें, कान, नाभि, हृदय, कण्ठ, सिर, भुजाएं और हाथ आपके बल से युक्त हों। इसका भाव यही है कि इस

मन्त्र के द्वारा उपासक अपनी इन्द्रियों में शक्ति और यश को प्राप्त करने के लिए परमात्मा से प्रार्थना करता है।

मार्जन मन्त्र (शुद्धि मन्त्र)

शरीर के प्रत्येक अंग को शुद्ध करने के लिए कुशा के गुच्छे से जल लेकर अपने ऊपर छिड़कें और यह मन्त्र पढ़ें—

'ओम् भूः पुनातु शिरसि। ओम् भुवः पुनातु नेत्रयोः। ओम् स्वः पुनातु कण्ठे। ओम् महः पुनातु हृदये। ओम् जनः पुनातु नाभ्याम्। ओम तपः पुनातु पादयोः। ओम सत्यं पुनातु पुनश्शिरसि। ओम् खं ब्रह्म पुनातु सर्वत्र॥'

अर्थात् हे प्रभो! मेरे सिर, नेत्र, कण्ठ, हृदय, नाभि, पैर तथा शरीर के सभी अन्य अवयवों को सब प्रकार से पवित्र और शुद्ध करो।

प्राणायाम मन्त्र

इस मन्त्र को पढ़ते समय अपनी प्राणवायु, अर्थात् श्वास-क्रिया को सहज और नियन्त्रित रखें।

'ओम् भूः। ओम् भुवः। ओम. स्वः। ओम् महः। ओम् जनः। ओम् तपः। ओम् सत्यम्॥'

अर्थात् हे प्रभो! आप तीनों लोकों में सत्यस्वरूप, चित्तस्वरूप, आनन्द-स्वरूप, महान्, सभी प्राणियों के जनक, तेजस्वी, अविनाशी और सर्वव्यापक हैं। हम आपकी शरण में हैं। आप हम पर कृपा करें।

अघमर्षण मन्त्र (पापनाशक मन्त्र)

ये पापनाशक मन्त्र तीन हैं। इनका क्रमवार उल्लेख किया जा रहा है। इन्हें पढ़ते समय प्रभु से पापों का विनाश करने की प्रार्थना करें।

ओ३म् ऋतञ्च सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्य जायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रोऽ अर्णवः॥ (1)

अर्थात् हे प्रभो! तुम्हारे अनन्त ज्ञानमय सामर्थ्य से वेद-ज्ञान और यह प्रकृति प्रकट हुई है। आपकी उसी सामर्थ्य से इस सृष्टि में प्रलय (सर्वनाश) होती है। यह जल, थल और समुद्र आपकी सामर्थ्य से ही प्रकट होता है। हे प्रभो! अपने उसी सामर्थ्य से हमारे पापों का नाश करो।

ओ३म् समुद्रादर्णवादधि संवत्सरोऽअजायत।
अहो रात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी॥ (2)

अर्थात् जल से भरे समुद्र के पश्चात्, सन्धिकाल व्यतीत होने के पश्चात् समस्त चराचर विश्व के नियन्ता परमात्मा ने दिन और रात उत्पन्न किये। ऐसे परमात्मा की हम उपासना करते हैं।

ओ३म् सूर्या चन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवञ्च पृथ्वीञ्चान्तरिक्षमथो स्वः॥ (3)

अर्थात् हे सबके आधार परमात्मा! आपने पूर्वकल्प की भांति ही सूर्य, चन्द्र और समस्त प्रकाशमान विश्व और प्रकाशरहित लोक-लोकान्तरों तथा अन्तरिक्ष को रचा है। हे सर्वशक्तिमान्! आप हमारे पापों को क्षमा करें।

इसके उपरान्त निम्नलिखित मन्त्र को पुनः एक बार पढ़कर तीन बार आचमन करें—

ओम् शन्नो देवीरभिष्टयऽ आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरमि स्त्रवन्तु नः॥

(इसका अर्थ जानने के लिए मन्त्र संख्या 2 देखें)।

अब आगे छह मन्त्रों का उल्लेख किया जायेगा। इन मन्त्रों द्वारा ईश्वर की समस्त दिशाओं में फैली व्यापकता का ध्यान करना चाहिए।

मनसा परिक्रमा मन्त्र

ओ३म् प्राचीदिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (१)

अर्थात् हे सर्वज्ञ प्रभो! आप पूर्व दिशा में हमारे सम्मुख हैं। आप हमारे सर्वोपरि शासक और रक्षक हैं। आपने ही सूर्य रचा है, जिसकी रश्मियों द्वारा इस पृथिवी को जीवन प्राप्त होता है। हे प्रभु! आपको तथा आपके कार्यों को और आपके साधनों को हम बार-बार नमस्कार करते हैं। इस जीवन में जो हमसे द्वेष अथवा ईर्ष्या करता है अथवा हम उसके प्रति ऐसा भाव रखते हैं, तो उसका न्याय आप ही करें। यह हम आप पर ही छोड़ते हैं।

ओ३म् दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्योः नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्योः नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (२)

अर्थात् हे प्रभो! आप हमारी दक्षिण दिशा में विद्यमान हैं। आप ही हमारे राजाधिराज हैं और दुष्ट तथा विपरीत चालों को चलने वाले लोगों से हमारी रक्षा करते हैं। ज्ञानियों द्वारा आप ही हमें ज्ञान देते हैं। हम आपको नमन करते हैं।

ओ३म् प्रतीची दिग्वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुम्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (३)

अर्थात् हे सौन्दर्यपति प्रभु! आप हमारे पीछे की दिशा में हैं। आप ही हमारे

महाराजा हैं और विषैले तथा हिंसक प्राणियों से आप ही हमारी रक्षा करने वाले हैं।

प्राणरक्षा के लिए आप ही हमें अन्न प्रदान करते हैं। हम आपको नमन करते हैं।

ओ३म् उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजोरक्षिताशनिरिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (४)

अर्थात् हे आनन्दस्वरूप परमात्मा! आप ही हमारे बायीं ओर हैं। आप परम स्वामी हैं, स्वयंभू और हमारे रक्षक हैं। आप ही विद्युत् द्वारा हमारी गति और प्राणों की रक्षा करने वाले हैं। हम आपको नमन करते हैं।

ओ३म् ध्रुवा दिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (५)

अर्थात् हे सर्वेश्वर, सामर्थ्यवान्! आप ही हमारे नीचे की ओर विद्यमान हैं। आप ही हमारे सम्राट् हैं। वृक्षों तथा वनस्पतियों द्वारा आप ही हमारे जीवन की रक्षा करते हैं। हम आपको नमन करते हैं।

ओ३म् ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः॥ (६)

अर्थात् हे देवाधिदेव प्रभु! हमारे ऊपर आप गुरु बृहस्पति के समान स्थित हैं। आप ही हमारे स्वामी हैं। वर्षा आदि करके आप ही हमें जीवनदान देते हैं। हम आपको नमन करते हैं।

इन मन्त्रों के बाद निम्नलिखित चार मन्त्रों द्वारा ईश्वर के तेजस्वी स्वरूप का ध्यान करें—

उपस्थान मन्त्र (पास आना)

ओ३म् उद्वयन्तमसस्परि स्वः पश्यन्तऽउत्तरम्।
देवं देवत्रा सूर्यमगन्म ज्योतिरुत्तमम्॥ (1)

अर्थात् हे प्रभो! आप अज्ञान और अन्धकार से सर्वथा मुक्त हैं, आप सुख-स्वरूप हैं, अजर-अमर हैं, समस्त दिव्य गुणों से युक्त हैं, सर्वव्यापक हैं और हमें जीवन देने वाले हैं। हम आपको और आपकी दिव्य ज्योति को प्राप्त करने में सफल हों, ऐसी कृपा हम पर कीजिये।

ओ३म् उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
दृशे विश्वास सूर्य्यम्॥ (2)

अर्थात् हे प्रभु! आप ज्ञान के उत्पादक और प्रकाश के पुंज हैं। संसार के सभी पदार्थ आपकी अद्भुत महिमा का परिचय दे रहे हैं। आपकी महिमा अपरम्पार है।

ओ३म् चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः। आप्रा द्यावा पृथिवीऽअन्तरिक्ष ध्ठं सूर्यऽऽआत्मा जगतस्तस्थुषश्च स्वाहा॥ (3)

अर्थात् हे परमपिता परमात्मा! आप अद्भुत, देवाधिदेव, सर्वश्रेष्ठ, सर्वद्रष्टा, सभी के प्राप्त करने योग्य और सभी के पथ-प्रदर्शक हैं। आप ही द्युलोक (आकाश) पृथिवीलोक, अन्तरिक्ष और समस्त जड़-जंगम जगत् की आत्मा हैं। आपको प्राप्त करने का हमारा उद्योग सफल हो। हम अपना समर्पण आपको करते हैं।

ओ३म् तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत्। पश्येम शरदः शतञ्जीवेम शरदः शत ध्ठंश्रृणुयाम शरदः शतम् प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्भूयश्च शरदः शतात्॥ (4)

अर्थात् हे सर्वद्रष्टा! आप अनादिकाल से अखिल विश्व के हितार्थ सर्वत्र विद्यमान हैं। हम आपकी कृपा से सौ वर्ष तक देखें, सुनें, जीवें, बोलें तथा स्वतन्त्र रहें और सौ वर्ष के उपरान्त भी आपका ध्यान करें, ऐसी हम पर कृपा करें।

गायत्री मन्त्र

इसके बाद पुनः गायत्री मन्त्र का जाप करें और परमात्मा का स्मरण करें।

ओ३म् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥

अर्थात् सच्चिदानन्द स्वरूप, सर्वरक्षक परमात्मा! आप सर्वोत्पादक, सभी के प्राप्त करने योग्य तथा समस्त पापों के नाशक परमेश्वर हैं। हम आपका ध्यान करते हैं। आप हमारी बुद्धि को पवित्र और विकसित करें।

आचमन मन्त्र

पुनः इस मन्त्र को पढ़कर तीन बार आचमन करें-

ओ३म् शन्नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये।
शंयोरभिस्त्रवन्तु नः॥

अर्थात हे सर्वप्रकाशक, सर्वव्यापक परमेश्वर! आप सभी शुभकर्मों में हमारे सहायक हों और हम पर सब ओर से निरन्तर सुख की वर्षा करते रहें।

समर्पण मन्त्र

दयानिधे भवत्कृपयानेन जनोपासनादिकर्मणा धर्मार्थकाममोक्षाणां।
सद्यः सिद्धिर्भवेन्नः॥

अर्थात् हे दया के सागर प्रभु! आपकी कृपा से इस जप और उपासना आदि के द्वारा हमें शीघ्र ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की सिद्धि प्राप्त हो। हम आपके श्रीचरणों में समर्पण करते हैं।

नमन मन्त्र

ओम् नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च॥

अर्थात् हे सुखस्वरूप, सुखदाता, कल्याणकारी परमात्मा! हम बार-बार आपको नमन करते हैं। आप हम पर कृपा करें।

शान्ति पाठ

ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳ शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः। वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि॥

अर्थात हे प्रभु! समस्त आकाश, पाताल, पृथिवी, अन्तरिक्ष में आप शान्ति प्रदान करें। समस्त वनस्पतियों, औषधियों में आप शान्ति स्थापित करें। हे देवाधिदेव, हे परब्रह्म! आप स्वयं भी शान्त हों और हमारे सभी पापों को शान्त करें।

ओ३म् शान्तिः शान्तिः शान्तिः

❑ ❑ ❑

पूजा, उपासना, तीर्थस्थान, व्रत कथा, पर्व रहस्य तथा महापुरुषों की अमृतमयी वाणी

आत्मशुद्धि के सरल-सुगम उपाय
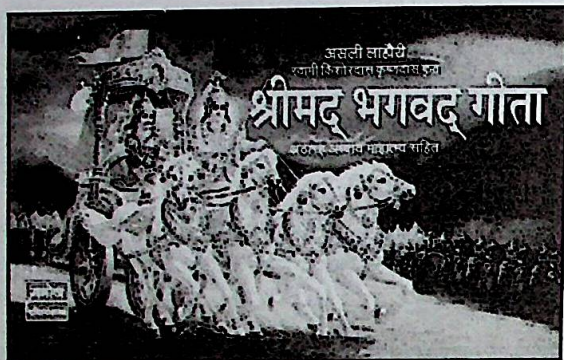
- ☐ स्वामी किशोरदास कृष्णदास कृत असली लाहौरी श्रीमद्भगवद् गीता (सजिल्द) 100.00
- ☐ हमारे पूज्य तीर्थ (देश के लगभग 100 तीर्थस्थलों की सचित्र प्रस्तुति) 60.00
- ☐ 12 महीनों की एकादशी व्रतकथाएं (माहात्म्य सहित) 30.00

☐ कबीर वाणी अमृतसंदेश	120.00	☐ शिव उपासना (16 पेज रंगीन)	50.00
☐ भजन सागर (दो रंगों में)	120.00	☐ महालक्ष्मी उपासना	50.00
☐ अनुराग सागर	100.00	☐ सरस्वती उपासना	50.00
☐ संत कवियों के प्रमुख दोहे	80.00	☐ हनुमान उपासना (16 पेज रंगीन)	50.00
☐ कबीर वाणी अमृतसंदेश	80.00	☐ दुर्गा उपासना	50.00
☐ हिन्दू मान्यताएं तथा रीति रिवाज	60.00	☐ गायत्री उपासना	50.00
☐ दृष्टांत महासागर	60.00	☐ सूर्य उपासना	50.00
☐ रहीम के दोहे	60.00	☐ शनि उपासना	50.00
☐ असली लाहौरी श्रीमद्भगवद् गीता	60.00	☐ भैरव उपासना	50.00
☐ 1008 कबीर वाणी सत्य-ज्ञानामृत	60.00	☐ काली उपासना	50.00
☐ धर्म और विश्वशांति	60.00	☐ गणेश उपासना (16 पेज रंगीन)	40.00
☐ संभोग, साधना और समाधि	50.00	☐ श्रीसूक्तम् (श्रीयन्त्र पोस्टर सहित)	40.00
☐ दुर्गा सप्तशती (8 पेज रंगीन)	50.00	☐ श्री सत्य साईं भजन पूजन विधि	40.00
☐ बारह महीनों के हिन्दुओं के व्रत त्योहार	50.00	☐ श्री सत्य साईं अवतार वाणी	30.00
☐ हनुमान भजनमाला	50.00	☐ 108 आरती संग्रह (दो रंगों में)	30.00

नीचे दिए गए पते पर मनीऑर्डर द्वारा धनराशि भेजें। पुस्तकें रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा भेजी जाएंगी। वी.पी. द्वारा पुस्तकें नहीं भेजी जातीं। कोई भी चार पुस्तकें मंगाने पर डाक-व्यय की छूट!

मनोज पब्लिकेशन्स, 761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली-110084

फोन : 27611116, 27611349, फैक्स : 27611546

भारतीय फलित-ज्योतिष

जातक के अतीत, वर्तमान और भविष्य का स्पष्ट ज्ञान

आपदाओं तथा संकटों से मुक्ति के सरल उपाय

पुस्तक	मूल्य	पुस्तक	मूल्य
☐ असली प्राचीन बृहद् लाल किताब	500.00	☐ मंगली दोषकारण और निवारण	100.00
☐ असली प्राचीन रावण संहिता	500.00	☐ फलित ज्योतिष मार्तण्ड	100.00
☐ रावण संहिता	400.00	☐ स्त्री जातक फल	80.00
☐ असली प्राचीन बृहद् लाल किताब	300.00	☐ ज्योतिष सीखिए	80.00
☐ भृगु संहिता	200.00	☐ मंगल-शुक्र अनिष्ट से मुक्ति	80.00
☐ काली किताब (16 पेज रंगीन)	150.00	☐ नाड़ी ज्योतिष शास्त्र	80.00
☐ लाल किताब	150.00	☐ विवाह एवं संतान योग	60.00
☐ भारतीय फलित ज्योतिष संहिता	150.00	☐ मंगल कितना अमंगल	60.00
☐ असली लाल किताब	120.00	☐ मूक, प्रश्न एवं स्वर ज्योतिष	60.00
☐ सुनहरी किताब	120.00	☐ हनुमान ज्योतिष	60.00
☐ शनि राहु केतु प्रकोप से मुक्ति	120.00	☐ ज्योतिष द्वारा कामना सिद्धि	60.00
☐ भारतीय गणित ज्योतिष	120.00	☐ ज्योतिष द्वारा रोग निवारण	60.00
☐ जन्मकुण्डली फलित दर्पण	120.00	☐ ज्योतिष और धनयोग	60.00
☐ लाल किताब के टोटके व उपाय	100.00	☐ राशि नक्षत्र और मुहूर्त विज्ञान	60.00
☐ प्रश्न फल निर्णय	100.00	☐ आपका राशि भविष्य	60.00
☐ सम्पूर्ण रत्न विज्ञान (16 पेज रंगीन)	100.00	☐ कालसर्प योग	50.00
☐ नवग्रह पीड़ा से मुक्ति	100.00	☐ शनि और साढ़ेसाती	50.00
☐ पाराशर होराशास्त्र	100.00	☐ ज्योतिष और सेक्स	50.00
☐ राहु-केतु प्रकोप से मुक्ति	100.00	☐ शनि का प्रकोप उससे बचाव	50.00
☐ क्या लिखा है आपके भाग्य में	100.00	☐ अनिष्ट ग्रह कारण और निवारण	50.00
☐ सूर्य बृहस्पति शांति उपाय	100.00	☐ स्वप्न और शकुन	50.00
☐ जन्मपत्री रचना में त्रुटियां क्यों	100.00	☐ ज्योतिष कम्प्यूटर	50.00
☐ कालसर्प योग	100.00	☐ ज्योतिष द्वारा अशुभ ग्रहों का उपचार	50.00

नीचे दिए गए पते पर मनीऑर्डर द्वारा धनराशि भेजें। पुस्तकें रजिस्टर्ड पैकेट द्वारा भेजी जाएंगी। वी.पी. द्वारा पुस्तकें नहीं भेजी जातीं। कोई भी चार पुस्तकें मंगाने पर डाक-व्यय की छूट!

मनोज पब्लिकेशन्स, 761, मेन रोड बुराड़ी, दिल्ली -110084

फोन : 27611116, 27611349, फैक्स : 27611546

A.H.W. Sawan Series

क्या हैं वेदों में ?

ईश्वर द्वारा प्रदत्त ज्ञान हैं वेद। वेद-प्रतिपादित ज्ञान प्राणिमात्र की सुख-समृद्धि के लिए है। वेदों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के मंत्र हैं। वेदों में कर्म, उपासना और ज्ञान की विस्तारपूर्वक चर्चा है।

"वेद ज्ञान-विज्ञान के भंडार हैं। सभी सत्य विद्याओं का मूल वेदों में विद्यमान है। वेद वह ज्ञान है, जिससे जीवन में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के रूप में महान लाभ की प्राप्ति होती है। वेदों से ईश्वर, जीव और प्रकृति का सम्यक् बोध होता है।"

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

वेदों में प्रकृति, देवता, जीव और ईश्वर के संबंधों की सुस्पष्ट विवेचना है। ज्ञान की पराकाष्ठा हैं वेद। आर्य जाति इन्हें ही सर्वोत्कृष्ट प्रमाण मानती है। जीवन के विधि-निषेधों का आधार वेद ही हैं। परमात्मा का ही मानो साक्षात् विग्रह हैं वेद।

"यदि कोई आर्य जाति के जीवन का विशद अध्ययन करने का इच्छुक है, तो उसके लिए वैदिक साहित्य का अध्ययन करना सर्वाधिक महत्वपूर्ण होगा।"

—मैक्समूलर

Rs. 60/-